कथा विसर्जन

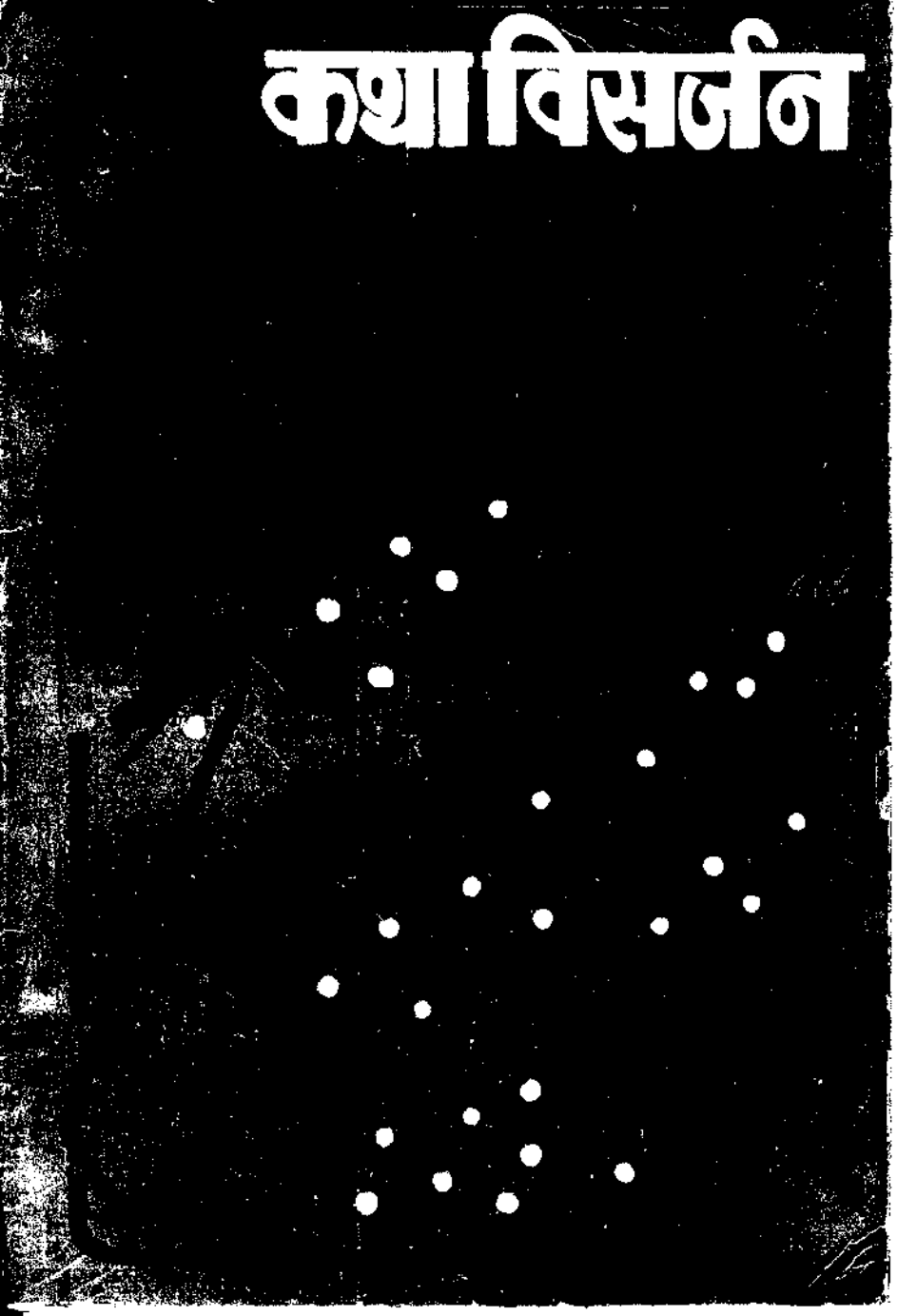

कथा विसर्जन

लक्ष्मीनारायण लाल

अजमेरा बुक कम्पनी, जयपुर

'कथा विसर्जन' नाटक के अभिनय-प्रदर्शन, अनुवाद, प्रसारण, रूपांतर तथा फिल्मीकरण आदि के लिए इसके लेखक लक्ष्मीनारायण लाल की लिखित पूर्व-अनुमति अनिवार्य है।

पता : ५४ ए, एम० आई० जी० फ्लैट
ए-२ बी, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली-११००६३

□

© सर्वाधिकार सुरक्षित

□

इलाहाबाद नाट्य केन्द्र के मेरे प्रथम
शिष्य और अंतरंग साथी
श्री जीवनलाल गुप्त को
सप्रेम भेंट।

प्रथम (सम्मोशन) संस्करण : नवम्बर, १९८५

□

मूल्य : सात रुपये

□

मुद्रक : चोपड़ा प्रिंटर्स, मोहन पार्क, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

KATHA VISERJEN : LAKSHMINARAIN LAL

अनुक्रम

- हिन्दी नाटक : विकास और प्रगति ७
- कथा विसर्जन की भूमिका २२
- नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल और उनकी कृतियों का परिचय २८
- प्राध्यापकों के लिए सुझाव ३९
- कथा विसर्जन (नाटक) ४१
- प्रश्न और अभ्यास १०१

हिन्दी नाटक : विकास और प्रगति

भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी नाटक तथा रंगमंच के पहले कृतिकार थे। इनके काल में जो परिवेश इन्हें प्राप्त था, वह था सामाजिक मान्यताओं के स्तर पर नए-पुराने संघर्ष का। ब्रिटिश राज्य अथवा अंग्रेजी संस्कृति बनाम हिन्दू सभ्यता और संस्कृति का। इन दोनों परिस्थितियों के बीच भारतेन्दु को अपना नाटककार व्यक्तित्व प्राप्त करना था। प्रकट है कि भारतेन्दु के ऊपर एक ओर संस्कृत नाट्य परम्परा का प्रभाव है तो दूसरी ओर ऐतिहासिक रोमांस का, तो तीसरी ओर रामलीला-रासलीला का, चौथी ओर नारी समस्या भी एक नए प्रसंग में विकसित होती है। अध्ययन करने पर भारतेन्दु का समूचा नाट्य साहित्य इन विभिन्न धाराओं का मनोरंजक समूह-सा लगता है।

इन नाटकों का प्रधान पक्ष शिल्प है, कथ्य नहीं। कथ्य के स्तर पर इनके दो नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' और दूसरा 'अन्धेर नगरी' ऐसे अवश्य हैं जिनका अध्ययन साहित्य के संदर्भ में कर सकते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' अपने शिल्प में संस्कृत नाटक का शिल्प है, किन्तु अपने काव्य में यह नाटक हरिश्चन्द्र के चरित्र की उस करुणा को व्यक्त करता है जहाँ सत्य के पालन में मनुष्य को बाज़ार में दयनीय स्थिति में बिकना पड़ता है और मानवता के श्मशान पर अपने पुत्र के शव के सामने अपनी ही पत्नी से कफ़न के लिए कहना पड़ता है। यह १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के मनुष्य के संघर्ष की एक झाँकी है जो यथार्थ भी है और करुण भी। दूसरी ओर 'अन्धेर नगरी' में अपने समय के परिवेश पर गहरा और व्यंग्यात्मक प्रहार किया गया है।

भारतेन्दु के बाद प्रसाद ने नाटक को एक साहित्यिक स्तर दे दिया और उसे 'आत्मानुभूति' से जोड़ दिया। इस तरह प्रसाद के द्वारा नाटक के क्षेत्र में बाहरी समाजालोचना व समाज-सुधार—इन सबसे बहुत गहरे मानवीय संघर्ष और उनके व्यक्तित्व की सार्थकता के प्रश्नों को जोड़ देने का कार्य किया गया। 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी'—ये तीनों नाटक मनुष्य चरित्र के महत्त्वपूर्ण दस्तावेज हैं। इन स्तरों पर ये नाटक अपने अर्थ में आधुनिक हैं। इनका ऐतिहासिक परिवेश निश्चय ही तत्कालीन समस्याओं से उद्‌भूत है और ये तीनों नाटक ऐतिहासिक होते हुए भी समसामयिक हैं—इनके सारे चरित्रों के माध्यम से हम १९२९ से १९३६ तक के भारतवर्ष का एक स्वरूप देखते हैं।

दूसरी ओर चन्द्रगुप्त के भीतर जो चारित्रिक संघर्ष है जो उसमें द्वैत है उन दोनों से वह लड़ता-जूझता हुआ अपने-आपको नाटक के अन्त में पाता है, उतने अर्थ में वस्तुतः 'स्कन्दगुप्त' एक आधुनिक नाटक सिद्ध होता है। रंगमंच के स्वरूप में भी प्रसाद के नाटक बहुत-सी सम्भावनाओं और रंग-शक्तियों से परिपूर्ण हैं। इन नाटकों का दोष केवल यह है कि ये अपने विस्तार में एक संवेदना से अधिक बाहरी तथ्यों को भी अपने में समेटे रहते हैं, किन्तु ये सारी समस्याएँ बहुत गौण रूप में नाटक से जुड़ी हैं और इनका मूल संवेदना से कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं है।

यह सच है कि हिन्दी क्षेत्र में लोक रंगमंच की परम्परा अबाध रूप से विद्यमान थी। रामलीला, कृष्णलीला, स्वांग, भगत, नौटंकी आदि सब थे। पर इनका सम्बन्ध उस बदले हुए समय, युगबोध से कतई नहीं था, जैसे कि बंगाल में उनके परम्परागत लोकनाट्य 'यात्रा' में हुआ और उसमें से आगे पैदा हुई एक नाट्य-परम्परा।

हिन्दी में उस नयी नाट्य-परम्परा की एक सार्थक तलाश भारतेन्दु का 'अन्धेर नगरी' नाटक है और यह एक तलाश भारतेन्दु ने कितनी लम्बी यात्रा तय करके की है। 'अन्धेर नगरी' कितनी ही परम्पराओं को अपने में पचाकर अपने समय में उत्पन्न सामाजिक जीवन का एक यथार्थ रूपक है जिसकी भाषा, रूपबंध और समूचा रंगमंच हिन्दी की अपनी मौलिक कृति है। पर इसके बाद यह परम्परा वहीं-की-वहीं रुक गई, और ठीक इसके

विपरीत पारसी थिएटर विकसित होता रहा। विकसित इस अर्थ में है कि यह समय के अनुसार राष्ट्रीय चेतना, धर्म और समाज के पुनरुत्थान की चेतना को अपना विषय बनाने लगा। इसलिए नहीं कि उसे इन विषयों में किसी प्रकार की स्वयं आस्था थी, बल्कि इसलिए कि उस काल का दर्शक-वर्ग यही विषय चाहता था और इसी भावना में वह रंगा था।

पर यह विषय-भावना उतनी ही थी जितनी कि उस समय की अंग्रेज़ी हुकूमत की नज़र में कहीं खटके नहीं। प्रथम महायुद्ध के बाद से तीसरे दशक के अन्त तक, यह इतना काल पारसी थिएटर की चरम सफलता का काल है और हिन्दी भाषा क्षेत्र के लिए यह काल 'स्वदेशी आन्दोलन', 'असहयोग आन्दोलन', 'क्रान्तिकारी संघर्ष' का समय है। इसके जवाब में अंग्रेज़ी हुकूमत की ओर से क्रमशः 'रौलेट एक्ट', 'जलियाँवाला हत्याकांड', 'कम्युनल एवार्ड' और 'दमन' के अन्य क्रूर चक्र काल हैं।

ऐसी परिस्थिति में पारसी थियेटर को दोधारी तलवार पर चलना पड़ा। इन दोनों परस्पर-विरोधी स्थितियों का हल पारसी थियेटर ने ढूँढ़ निकाला राष्ट्रीय चेतना, पुनरुत्थान की भावना पर इश्क, मेलोड्रामा, रोमानियत का चटक रंग चढ़ा देना। इसके बाद भी यदि कहीं राष्ट्रीय चेतना, भारत का गौरव, स्वदेश भावना, हिन्दुत्व दिखे, तो उसी अजीबो-गरीब सीन-सीनरियों, चमत्कारपूर्ण रंगमंचीय करिश्मों में इस तरह ढाँप दिया जाए कि दर्शक उसी बाह्य से चमत्कृत रह जाए और उसके ऊपर गाने, रक्स वगैरह की चाशनी में सब कुछ अजीब ढंग से मीठा-मीठा कर दिया जाये।

इस प्रसंग में यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है कि जैसे-जैसे राष्ट्रीय चेतना हिन्दी भाषा और संस्कृति से जुड़ती गयी है, वैसे-वैसे पारसी कम्पनियों ने धर्मकथावाचकों (राधेश्याम), हिन्दू धर्म, पुराण और इतिहास को उसी निष्ठा से देखने वाले नारायणप्रसाद 'बेताब' को महत्त्व देना शुरू किया। शुद्ध हिन्दी भाषा और हिन्दी छंद, गीत और इतिहास, पुराण की सीधी कथा। राष्ट्रीय भावधारा, हिन्दुत्वगरिमा, वतन की आबरू पर कुर्बान हो जाना। इसके कितने सारे उद्धरण पारसी नाटक में से दे दिए जा सकते हैं।

पर ये सारी भावनाएँ, उद्‌गार, उपदेश, भाषण के रूप में आये तिस पर भी इसे क्रमशः संतुलित किया (ढके रखा) मुहब्बत की दीवानगी ने, राजा बहादुर और खटपटसिंह की विदूषकी ने, सौभागचन्द, हरीदास मारवाड़ी चरित्रों, मिरासी, तबलची, तमाशबीनों के हास्य ने तथा चेता चमार, सत्ती गोपी के अति विषयांतर प्रसंगों ने।

बिलकुल ठीक इसी के समांतर इसी काल में जयशंकर प्रसाद अपने पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों में इसी पुनरुत्थान की भावना और राष्ट्रीय गौरव को किशोर मन की भावुकता और छायावादी कुहेलिका से ढककर, उस पर अस्पष्टता का झीना-सा आवरण चढ़ाकर अभिव्यक्त कर रहे थे। यह अत्यन्त उल्लेखनीय है कि भारतेन्दु ने ऐसा कहीं नहीं किया है। इसका कारण था कि प्रसाद के विपरीत भारतेन्दु प्रत्यक्ष रंगमंच से जुड़े थे और स्वतन्त्र नाट्य-परम्परा के लिए संघर्षरत थे।

प्रसाद ने ठीक इसके विपरीत किया। उन्होंने नाटक का रूपबन्ध और रंगमंच का पूरा विधान सीधे पारसी थियेटर से ज्यों-का-त्यों ले लिया और पारसी थियेटर के विपरीत (प्रतिक्रियास्वरूप) उन्होंने काव्यात्मकता, साहित्यिकता भी दी। उन्होंने तीन अंकों, अर्थात् चरमसीमा से आगे 'फलागम' (संस्कृत) और 'समाहार' ('डिनाउन्समेण्ट'—शेक्सपियर) तक सोचा, और उसी के अनुरूप कथा, चरित्र और अंकदृश्य योजना बनायी। और, तभी निर्देशक, अभिनेता और दर्शक की कल्पना, सृजन शक्ति को जगाता हुआ कई स्तरों पर अपने-आपको निर्मित और सम्पूर्ण करता है।

पारसी थियेटर का सारा रंगविधान प्रसाद के नाट्य विषय और भावबोध से बिलकुल विपरीत पड़ने के कारण, नाटककार प्रसाद की शक्ति को खंडित नहीं करता, उसे बिखेर देता है। पारसी थियेटर जैसे 'इश्क' और 'राष्ट्रीयता' के दो विरोधी घोड़ों पर चढ़ा था, ठीक उसी तरह प्रसाद की समूची नाट्यकला पारसी थियेटर और 'आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति' के परस्पर-विरोधी घोड़ों पर आसीन थी। जहाँ सारा दृश्यत्व रंगे हुए पर्दों, सीन-सीनरियों और अभिनय से लेकर यांत्रिक प्रभावों तक सीमित है, वहाँ काव्य के लिए कल्पना और गहराई की कोई गुंजाइश नहीं हो सकती। वहाँ काव्य केवल संवाद में हो सकता है या गीतों में। यही

प्रसाद के नाटकों में हुआ भी।

इतना ही नहीं प्रसाद के काव्यत्व पर वही कथित, सूचित, परिभाषित राष्ट्रीयता, नवोत्थान, समाज-सुधार का अतिस्वर छाया रहा।

दो परस्पर-विरोधी रंग प्रवृत्तियों के प्रयोग के कारण, तथा पाठक में पाठ्य आग्रह के कारण विषय, चरित्र और अंकविधान के स्तर पर अनेक सीमाएँ और सामने आती हैं।

एक ओर, प्रसाद ऐतिहासिक नाटक लिखने के पीछे प्राचीन भारत के मौलिक इतिहास के अन्वेषक होना चाहते थे; दूसरी ओर, जैसे 'बेताब' और राधेश्याम ने क्रमशः 'महाभारत' और 'वीर अभिमन्यु' में समूचे महाभारत का सार और पूरी अभिमन्यु गाथा कह डालनी चाही है—ठीक इसी तरह प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' में ऐतिहासिक कथाओं से दोनों कालों की समूची तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है और इन्हें नाटक भी बनाना चाहा है। इसका फल यह हुआ कि इन दोनों नाटकों में 'वस्तुकाल' बहुत ही लम्बा हुआ है। ठीक वैसे, जैसे 'बेताब' के 'महाभारत' में। इस लम्बे काल से किस प्रकार नाटक को हानि पहुँचती है, यह इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो लोग आरंभ में किशोर या युवा थे, उन्हें स्वभावतः अन्ततः प्रौढ़ या वृद्ध हो जाना चाहिए। पर नाटककार उन्हें वहीं रखता जाता है। और पच्चीस वर्ष बाद भी वे युवा ही रहते हैं। इतिहास और नाटक दोनों स्तरों पर ऐसी अनेक सीमाएँ और दोष सामने आते हैं।

पारसी थियेटर में दर्शक को लुभाने तथा पूरी कथा बताने के लिए एक चमत्कारमूलक दृश्यों की अवतारणा की जाती थी। 'चन्द्रगुप्त' में भी ऐसे चमत्कारमूलक दृश्यों के मोह ने इसे रचनागत अराजकता से भर दिया है। ये नाटक को अनावश्यक रूप से अतिरंजना-प्रधान बनाते हैं, और इसके काव्यतत्त्व को स्वभावतः तोड़ते हैं।

अंकों की शुरुआत 'रुस्तम सोहराब' के विधान की याद दिलाती है, पर इनके अन्त झाँकी (टैब्लो) विधान के अनुरूप होते हैं और 'बेताब', राधेश्याम का प्रभाव सामने आता है। दृश्य, प्रवेश, प्रस्थान, काव्य-व्यापार—इन सब पर 'हश्र', 'बेताब', डी० एल० राय, राधेश्याम के

परस्पर-विरोधी प्रभाव उल्लेखनीय हैं। अन्ततः प्रसाद की कोई रंगशैली तभी स्पष्ट उभरकर नहीं आती।

लगता है प्रसाद ने अपनी इस रंगमंच सीमा को 'ध्रुवस्वामिनी' तक पहुँचते-पहुँचते स्वीकार किया है और 'ध्रुवस्वामिनी' में वे यथार्थवादी रंगमंच-शैली की ओर झुके हैं। इससे पहले के किसी भी नाटक में उन्होंने दृश्य-सज्जा या मंच दृश्य का इतना विधिवत् विधान नहीं दिया है। केवल 'स्कंधावार', 'राजप्रासाद', 'प्रकोष्ठ', 'श्मशान', 'युद्धस्थल' आदि एक शब्द से वे पूरे दृश्य का संकेत कर देते थे; पर यहाँ 'ध्रुवस्वामिनी' में उन्होंने बाकायदा दृश्यों का विधिवत् नाटकीय हेतु चयन किया है।

इन सब सीमाओं के बावजूद प्रसाद के नाटक की कुछ उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं, जिन्हें उनकी रंगमंचगत सीमाओं से बेधकर प्राप्त किया जा सकता है।

काव्यतत्त्व प्रमुख उपलब्धि हैं, जो नाटक को सही अर्थों में नाटक सिद्ध करते हैं। इसी तत्त्व से मुख्यतः 'स्कंदगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' में एक अजब तरह का सम्मोहन है, जो आज तक बना हुआ है।

उन्होंने इतिहास-पुराण को पारसी थियेटर के नाटककारों की तरह न देखकर उसे अपने समय से जोड़ा है और इस तरह उनकी रचना भी की है। अपने समय की समस्त राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक चेतना को उन्होंने अपने ढंग से छुआ है और उसको ऐतिहासिक मानवीय गहराइयों में ले गए हैं।

दृश्यत्व के साथ काव्यतत्त्व को जोड़ने का प्रयत्न इसमें उल्लेखनीय है। इसलिए पारसी थिएटर को सर्वथा भूलकर या काटकर यदि कल्पना की आँखों से 'स्कन्दगुप्त' को देखा जाए तो एक महत्त्वपूर्ण नाटक और रंगमंच उससे उभरता है। ऐसा रंगमंच जो हिन्दू सौन्दर्यबोध, स्थापत्य, वस्त्र, रंगरूप सबकी ओर सार्थक संकेत देता है।

उनके चरित्रों में कई आयाम हैं, जो उन्हें उनके परिवेश से जोड़कर मानवीय और नाटकीय दोनों गुणों से मंडित करते हैं। उनमें गम्भीर संघर्ष छिड़ा है, ये चरित्र से व्यक्तिगत प्राप्ति की ओर बढ़ते सिद्ध होते हैं, और कभी-कभी तो वे सचमुच संगीत की अन्तिम लहरदार तान छेड़कर हमारे

मानस में घर कर लेते हैं। 'स्कंदगुप्त', 'देवसेना' ऐसे ही अप्रतिम चरित्र हैं।

प्रसाद ने 'स्कंदगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' नाटकों में पारसी थिएटर से सर्वथा आगे, पूर्वा पर ध्यान दिया है और नाटक की कथावस्तु, चरित्र को ऐसे नाटकीय बिन्दु से उभारा है जहाँ से वर्तमान और पूर्ववर्ती घटनाओं और क्रियाओं से कलात्मक सम्बन्ध जोड़ते चलते हैं।

प्रसादोत्तर हिन्दी नाट्य और रंगमंच में जो पौराणिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और समस्या-प्रधान नाटक हैं वे आधुनिक नाटक के उल्लेखनीय उदाहरण नहीं हैं जितने कि प्रसाद के नाटक थे। क्योंकि प्रसाद में जो गौण था, आनुषंगिक था वही सारे तत्त्व आगे के नाटकों में नाटक के विषय बन जाते हैं।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान का स्वर लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण 'प्रेमी', सेठ गोविन्ददास में प्रमुख हो जाता है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' के 'रक्षाबन्धन' में हिन्दू-मुसलमान की एकता को विषय बनाया गया है। वस्तुतः यह विषय समाज-सुधार का है, नाटक का नहीं। इसी तरह मिश्रजी की 'नारद की वीणा', 'गरुड़ ध्वज' हिन्दू संस्कृति और उसकी श्रेष्ठता को व्यक्त करने वाले नाटक हैं। इसी तरह उदयशंकर भट्ट का 'अम्बा' और इस काल के अन्य ऐतिहासिक-सांस्कृतिक नाटक आधुनिक नाटक के महत्त्वपूर्ण आन्तरिक तत्त्वों से शून्य हैं क्योंकि इनमें प्रत्यक्षतः सांस्कृतिक अध्ययन और तत्त्व अधिक हैं; मानवीय नियति और उसके यथार्थों का साक्षात्कार बहुत कम है। नाटक मूलतः नाटक होते हैं जो मानव, नियति और उसके संघर्ष के दर्पण ही हैं। नाटक भी सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक नहीं होते। प्रसादोत्तर इन सारे नाटकों में शिल्प की दृष्टि से भी कोई प्रयोग नहीं है, न इन नाटकों में इनका रंगमंच पक्ष ही प्रधान है। बल्कि हम यों कह सकते हैं कि प्रसादोत्तर युग के सारे नाटक अभिनय और रंगमंच परिप्रेक्ष्य में लिखे ही नहीं गये। ये सांस्कृतिक अध्ययन और पठन-पाठन के लिए तथा नाटकेतर उपलब्धियों के लिए अधिक लिखे गये।

जिस प्रकार नाटककार प्रसाद के भीतर भारत के अतीत के प्रति

आस्था, कवि का भावुक व्यक्तित्व तथा पारसी थिएटर का रूपबंध और रंगविधान के स्तर पर प्रभाव और विषयवस्तु, भाषा, चरित्र आदि के प्रति गहरी प्रतिक्रिया, प्रमुख शक्तियों के रूप में कार्यरत थी, ठीक उसी प्रकार नाटककार मिश्र के भीतर प्रसाद की काव्यात्मकता के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया, पारसी थिएटर के प्रति तीव्रतर दुराव और इनके स्थान पर इब्सन के नाटकों के रंगविधान की स्वीकृति कार्य कर रही थी। इन्होंने सबसे पहले भावात्मकता के विरुद्ध बुद्धिवाद का स्वर बुलंद किया।

बुद्धिवाद से स्वभावतः व्यक्तिवाद को जोड़कर मिश्रजी ने व्यक्तिगत नैतिकता, सामाजिक नीतिनिर्वाह के क्षेत्र में बड़े ही निर्भीक और स्वतंत्र ढंग से सोचा। इन दोनों क्षेत्रों में सचाई जो है, जिस रूप में है, उसे तो वह स्वीकार कर लेता है, लेकिन उस पर कितने बेठन चढ़े हैं, उसे कितने कपड़े और गहने पहनाये गये हैं, वह कितनी जंजीरों में बाँधी गयी है, इन बातों को वह स्वीकार नहीं करता। 'बुद्धिवाद किसी तरह का हो, किसी कोटि का हो, समाज या साहित्य की हानि नहीं कर सकता।' बुद्धिवाद में 'शूगरकोटेड' कुनेन की व्यवस्था है ही नहीं। वह तो तीक्ष्ण सत्य है, उसका घाव गहरा तो होता है लेकिन अंगभंग करने के लिए नहीं, मवाद निकालने के लिए, हमारी प्रसुप्त चेतना को जगाकर हमारे भीतर नवीन जीवन और नवीन स्फूर्ति पैदा करने के लिए।

इस बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद के भीतर मिश्रजी ने नाटक-सम्बन्धी जो मान्यताएँ बनायीं, उन्हें इन बिन्दुओं से देखा-पकड़ा जा सकता है :

☐ बुद्धि और तर्क के भीतर से ही यथार्थ की अभिव्यक्ति नाटक में हो सकती है, भावना या कल्पना से नहीं।

☐ यही और ऐसा ही यथार्थवादी नाटक नाटक कहलाने का अधिकारी है। इन दोनों भावबिन्दुओं को देखने से प्रकट है कि यथार्थवाद की यह प्रेरणा इन्होंने इब्सन से ली।

पर इब्सन के 'नाट्य' का यथार्थवाद वह नहीं है जो मिश्रजी ने ग्रहण किया—वह महज उसके यथार्थ का बाहरी ढाँचा है, जो ऊपर से 'समाज-सुधार', 'समाजालोचना' और परम्परा के प्रति 'विद्रोह'-सा दिखाता है। यह यथार्थ उतना ही नहीं है जो परस्पर-बोलचाल की भाषा में (वाद-विवाद) प्रकट होता है या घर-गृहस्थी, कमरे या ड्राइंगरूम के परिवेश के भीतर से अपने को प्रत्यक्षतः प्रकट कराता दिखाता है। वह यथार्थ—नहीं, महत्तर यथार्थ—इन सब साधनों से कहीं आगे अप्रत्यक्ष रूप से विकसित, स्वनिर्मित होकर काव्यात्मक यथार्थ के धरातल पर जा पहुँचता है।

और बुनियादी सवाल यही उभरता है—मिश्रजी ने इब्सन से वह बाहरी यथार्थ ही क्यों ग्रहण किया ?

दरअसल नाटक के रंगमंच की दुनिया एक अप्रत्यक्ष संसार है। यूँ यह प्रत्यक्ष तो सबसे ज्यादा है, पर नाटक का यह प्रत्यक्षीकरण अभिनेता, निर्देशक, रंगशिल्पी की मध्यस्थता से मंच पर दर्शक के सामने होता है। यह एक विशिष्ट विधा ही नहीं, सब विधाओं से ज्यादा यह दूसरों (दूसरी कलाओं, मनुष्य, कलाकार, अनुभव, सृजन) से संयुक्त है।

पारसी थिएटर की प्रतिक्रिया में यही संपृक्तता पहले प्रसाद से टूटी और प्रसाद के बाद दोहरी प्रतिक्रिया से यह 'मिश्र', 'सेठ', 'प्रेमी' आदि के द्वारा तोड़ी गयी।

भाषा का अत्यधिक प्रयोग पारसी थिएटर और प्रसाद दोनों में हुआ है। पारसी थिएटर में इसके अति प्रयोग के पीछे दो कारण थे—वहाँ अभिनेता एक ही बात को, भावना को दो तरह से दोहरे ढंग से कहता था—पहले वह दर्शक को बताता था, फिर वही स्वयं कहकर (मुख्यतः बहरे-तवील और अन्य छंदों में) उसी का अभिनय करता था, दूसरे उसमें 'प्रचारक' का भी अत्यधिक हस्तक्षेप था, इसीलिए भाषा का अराजक प्रयोग हुआ था। पर बुनियादी ढंग से इस भाषा-प्रयोग में अभिनेता इसके भीतर विद्यमान था और साथ ही इसमें दर्शक भी शामिल था। अतएव भाषा का यह अतिप्रयोग रंगमंच में घुलमिल गया था। इसी के अनुरूप उसमें अतिरंजनाप्रधान चमत्कारमूलक घटनाएँ और कार्यव्यापार थे, इसलिए भी भाषा-प्रयोग की वह अराजकता उसका अभिन्न अंग बन जाती थी। प्रसाद में वही अभिनेता और दर्शकबोध पारसी थिएटर की तुलना में भाषा के भीतर से कुछ दूर छूट गया।

प्रसाद के बाद 'मिश्र', 'सेठ', 'प्रेमी' के भाषा-प्रयोग में वही अभिनेता और दर्शक अपेक्षाकृत गायब हो गए। इसके स्थान पर क्रमशः आ गए

परस्पर वाद-विवाद करने वाले स्त्री-पुरुष (चरित्र नहीं) और पाठक। और ये प्रचारक, कवि के स्थान पर तार्किक 'वकील' और 'बुद्धिवादी' लेखक हो गए। इस सृजन भूमिका पर, जब इन नाटककारों ने इतिहास, पुराण की कथावस्तु और चरित्र लिए तो अपनी संस्कृति से स्वयं को जोड़ने के लिए इब्सन, प्रसाद, डी० एल० राय, पारसी थिएटर, सबको बुद्धि द्वारा बेधते हुए सीधे ये भरतमुनि तक पहुँचे और अपने नाट्य का सम्बन्ध अपने पूर्वजों से जोड़ने लगे।

असत्य को सत्य करने की यह विचित्र पद्धति शेक्सपियर के नाटकों तक अपने वेग से चलती रही। इब्सन ने शेक्सपियर के विरुद्ध प्रतिक्रिया की, पर हमारे दुर्भाग्य से द्विजेन्द्रलाल राय ने आँख मूँदकर शेक्सपियर का अनुकरण किया और वह अनुकरण देश की सभी भाषाओं पर छा गया। अब समय आया है जब इस देश के साहित्यकार अपने जातीय सिद्धांतों को समझें और अपना सम्बन्ध अपने पूर्वजों से जोड़ें।

'काव्येषु नाटकं रम्यम्', भरत के कथन से यह निश्चित हो जाता है कि लोकवृत्ति का चित्रण, उत्तम, मध्यम और अधम मनुष्यों के व्यापार, क्रियाकलाप का निदर्शन नाटक या साहित्य का कोई भी अंग हो सकता है। लोकवृत्ति प्रकृति की बनाई है। कोई भी कवि कल्पना से उसका निर्माण नहीं करता।

जाहिर है, जहाँ सारा रंगमंच भाषा का है वहाँ 'नाट्य' की कवि कल्पना से क्या मतलब ? वहाँ मतलब होगा ऐसी अतिनाटकीय स्थितियों से जहाँ जमकर आर्य-अनार्य, ब्राह्मण-शूद्र, धर्म और संस्कृति, दर्शन और कर्म, वेदान्त और आनन्द, श्रेय और प्रेय, तथा व्यक्ति और समाज, नैतिकता बनाम अनैतिकता, राक्षस बनाम देवता, काम और सेक्स, आचार बनाम दुराचार, सामाजिक भ्रष्टाचार और व्यक्ति, हिंसा और सद्वृत्ति पर वाद और विवाद और बहस हो सके; जहाँ भाषा के तीखे बाणों से असत्य का पर्दाफाश किया जाए, जहाँ हिन्दू धर्म की उदारता बनाम मजहबी तआस्सुब, हिन्दू-मुसलमान की एकता, नमाज और इन्सानियत, छूत-अछूत, साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता, मराठे, राजपूत और हिन्दुत्व बनाम मुगल संस्कृति और राम बनाम गाँधी, कर्त्तव्य और अधिकार, ज्ञान और

शांति, बौद्ध धर्म बनाम ईसाई धर्म, संस्कृति और वर्गभेद, पाश्चात्य बनाम भारतीय जीवनदृष्टि तथा समाज और शोषण, अछूतोद्धार, पाप-पुण्य, हिंसा-अहिंसा, सेवा और महत्त्व, व्यक्ति और दुःख विषयों पर समुचित प्रकाश मिले। उन्हें ज्ञान भी हो और प्रकाश भी प्राप्त हो।

मैंने नाटकों की रचना निरुद्देश्य नहीं की है। प्राचीन इतिहास हमारी शक्ति और दुर्बलता का दर्पण है। मैंने बार-बार यह दर्पण अपने देशवासियों के सम्मुख रखा है, ताकि हम अपने देश के अतीत को देखकर व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन से उन दुर्बलताओं को दूर करें, जिन्होंने हमें पराधीनता के पाश में बाँधा।

मानवीय विषयों और समस्याओं पर वाद-विवाद करने का तत्त्व इब्सन में खूब था, पर वहाँ हर नाटक में विषय एक ही था और समस्या भी एक ही ली जाती थी और नाटक का सारा यथार्थवादी ढाँचा, अपनी तमाम 'बातों', 'वाद-विवादों', 'तर्कों' के बावजूद रंगमंचीय 'कार्य' से उद्भूत होता था। यहाँ इन नाटकों में प्रत्येक नाटक में कई विषय, कई समस्याएँ होती हैं, और प्रत्यक्षतः इसका सारा रंगमंचीय विधान न किसी एक निश्चित कार्य से उद्भूत होता है, न किसी नाटकीय चरम परिणति से इनका कोई सम्बन्ध जुड़ता है।

मानवीय भावनाओं, क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं पर व्याख्या, टीका-टिप्पणी, चरित्रों के मनोवेग को सूचित-परिभाषित करने की परम्परा संस्कृत नाट्य से लेकर शेक्सपियर, पारसी थिएटर और प्रसाद तक हमें मिलती है। पर वहाँ वह विशिष्ट तत्त्व उसके रंगमंच प्रकार और अभिनय शैली के भीतर से आता है। वहाँ सारे रंगमंच की प्रकृति ही ऐसी है।

पर यहाँ रंगमंच की प्रकृति और उसकी रंग-शैली परस्पर-विरोधी शैलियों के तालमेल तथा गड्डमड्ड के कारण और मूलतः इसमें जीवित रंगमंच बोध की विहीनता के कारण 'पाठ्य' तत्त्व प्रमुख हुआ। और उसमें भी संस्कृति, इतिहास, जीवनादर्श जैसे भारी-भरकम विषयों का भार पड़ा। फलतः यहाँ सब कुछ मूल रूप से 'कहा गया', 'लिखा गया', 'बताया गया', 'विचार-विनिमय हुआ'— 'जिया' और 'रचा' नहीं गया।

पारसी थिएटर या पश्चिमी ड्रामा के दबाव और प्रतिक्रियास्वरूप

और अपनी रंगआस्था के फलस्वरूप, भारतेन्दु और प्रसाद में रंगमंच और अभिनय शैली की जो तलाश है, प्रयत्न है, वह यहाँ सर्वथा लुप्त है। यहाँ सारा इतिहास, संस्कृति, जीवनादर्श, राष्ट्रीयता, व्यक्ति समाज के विचार स्तर पर है।

इन नाटककारों के नाट्यचरित्र कर्म करने की अपेक्षा बोलते ज्यादा हैं। पारसी थिएटर में चरित्र बोलते भी थे, और यही कार्य भी करते थे। वहाँ वस्तुतः 'कार्य-कथन' और 'कार्य-सम्पादन' दो धरातलों पर, उस रंगमंच प्रकृति के अनुकूल प्रस्तुत होता था। 'कथन', 'सम्भाषण', कल्पना जगाने, सूचना देने के उद्देश्य से, और वही कार्य-सपादन 'दृश्यत्व' के लिए होता था। अर्थात् एक ही बोध को शब्द से लेकर कार्य तक गतिमान करना, चर्चित देखना, ताकि उसमें मानवीय गति, कार्य-बोध पैदा हो।

पर यहाँ 'बोलना' प्रायः वाद-विवाद, मानसिक संघर्षों के सूचनार्थ और ज्ञान-प्रदर्शन के स्तर पर होता है। इसलिए यहाँ नाट्य सम्प्रेषणीयता अपेक्षाकृत 'पाठ्य' के एक ही स्तर पर होती है। यहाँ अनेक दृश्यों के अभिनय, बल्कि कुछ संपूर्ण नाटकों के अभिनय केवल बैठकर ही, बिना उठे, घूमे ही किए जा सकते हैं।

यहाँ चरित्र, ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक सभी प्रकार के नाटकों में अपने संघर्षों को अनुतप्त भाषा, दग्ध वाक्यांशों, आश्चर्यजनक सम्भाषणों, तीव्र वाद-विवाद द्वारा भी प्रकट करते हैं। जैसे, प्रायः चरित्र पाठकरूपी न्यायाधीश और जूरी (दर्शक) के सामने विचारों के विविध कठघरों में खड़े हों, वकील की तरह परस्पर बहस कर रहे हों और अपने विश्वासों, स्थापनाओं के लिए नज़ीरें, गवाहियाँ, उक्तियाँ, उद्धरण आदि पेश कर रहे हों। इसी का एक फल यह भी है कि इन सभी नाटकों में एक-से-एक सूक्तियाँ, आप्तवाक्य, सूत्रवाक्य और महावाक्य भरे पड़े हैं। इसे निश्चित ही 'बुद्धि' और 'भावना' प्रयोग का फल ही कहा जा सकता है।

भाषा रंगमंच के कारण इन नाटकों में विषय, प्रस्ताव, थीसिस, प्रबन्ध की भूमि खूब स्पष्ट होकर सामने आयी है।

प्रसाद जहाँ पारसी थिएटर की प्रतिक्रिया और अपनी आस्थावश भारत के इतिहास की वास्तविकता पर बल दे रहे थे, और इससे उस पूरे

काल की सांस्कृतिक स्थिति नाटक में झलक आती थी, ठीक इससे आगे अब नाटक ऐतिहासिक-पौराणिक न होकर विशुद्ध 'सांस्कृतिक' होने लगे, अपने काव्य और उद्देश्य इन दोनों धरातलों से।

हर नाटक एक पूर्वनिश्चित, निर्धारित प्रस्ताव, थीसिस या प्रबन्ध मूल्य पर आधारित हुआ।

वस्तुतः ये सारे नाटककार मानववादी थे। राष्ट्रीय संग्राम और पुनरुत्थान की भावना से बहुत नज़दीक से जुड़े थे। अतएव इनमें हर बिन्दु पर आदर्श और यथार्थ, परम्परा और विद्रोह, पुराना और नया के बीच इनके निश्चित विश्वास, भावनाएँ तथा विचार थे। उन्हीं को ये लोग नाटक में विषयवस्तु बनाते थे। उसी को अनेक तर्कों और उपायों से सिद्ध करते और खण्डित-मण्डित कर अपने एक पूर्वनिश्चित हल पर पहुँचते थे। यही कारण है कि इन सभी नाटककारों की नाट्य-रचनाएँ पठन-पाठन, ज्ञान-बुद्धि और तर्कों पर खड़ी हैं। अनुभूति और व्यंजना पर नहीं। भाषा-प्रयोग की प्रकृति से स्पष्ट है कि ये सभी अपने एक निश्चित विचार, स्थापना, प्रबन्धबोध से चारों ओर भाषा-संवाद का मकड़ी जाल बुनते रहते हैं। इस बनावट में सर्वत्र वही बुद्धि, भावना और तर्क के फन्दे मिलेंगे।

तभी यहाँ हर नाटक का आरम्भ एक विचार, एक प्रस्ताव, एक समस्या का 'आरम्भ' है और बीच का सारा भाग उस समस्या पर विचार-विनिमय के घात-प्रतिघात का मध्यभाग है और अन्त उस विचार, प्रस्ताव और उस समस्या की समाप्ति, हल या उपसंहार का है। यहाँ नाटक की समस्या इब्सन, शेक्सपियर, प्रसाद की तरह अपने पूर्व पर नहीं टिकी होती, न वह भविष्य के लिए छोड़ ही दी जाती है, वरन् प्रस्ताव, प्रबन्ध-बोध के अनुरूप नाटक के साथ समस्या शुरू होती है और उसके अन्त में वह समस्या समाप्त हो जाती है। मिश्रजी और प्रेमी इसमें अत्यन्त कुशल हैं। सेठजी आदि और अन्त के बारे में उतने निश्चित और स्पष्ट नहीं हैं। इसके लिए इन्होंने अपने नाटकों में 'उपसंहार' का सहारा लिया है, ताकि एक शिक्षक, नेता, सुधारक, बुद्धिजीवी के चिन्तन का प्रभाव पैदा हो, और समस्या कहीं से भी शेष न रह जाए।

इन नाट्य तथ्यों का अन्ततोगत्वा प्रभाव इनके नाट्य विधान पर पड़ा है। इस प्रसंग में सर्वाधिक उल्लेखनीय तत्त्व वह है कि जहाँ नाटक का सारा विधान बुनियादी तौर पर नाटक की अपेक्षा कथात्मक रंग-विधान के समीप आ गया है।

कथा और चरित्रविधान में यह इतिवृत्तात्मकता—आदि, मध्य और अन्त, बल्कि उपसंहार तक फैली हुई है, और नाटकीय गति में यह घटनात्मक और भावुकतापूर्ण कार्यों की परिसमाप्ति में।

इस तथ्य की पहचान इन् नाटकों के अंकविधान और दृश्ययोजना से होती है। चाहे सांस्कृतिक-ऐतिहासिक नाटक हो, चाहे सामाजिक, अंक अथवा दृश्यविधान बिल्कुल कथा साहित्य-सा (पाठ्य) होता है। शुद्ध पाठकों को ध्यान में रखकर दृश्य यहाँ लिखे गए हैं, वर्णित एवं कथित हैं, रंगमंच को ध्यान में रखकर नहीं।

श्रेष्ठ एकांकीकारों में डा० रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर और उपेन्द्रनाथ अश्क उल्लेखनीय हैं।

जगदीश माथुर के 'कोणार्क' नाटक से आधुनिक नाटक और रंगमंच की परम्परा फिर से उदित होती है। आधुनिक बोध में वर्तमान और भूत (इतिहास) के बीच जो व्यवधान उपस्थित होता है उसे कलात्मक सेतु द्वारा जोड़ना तथा अतीत के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान को अभिव्यक्ति देना एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। दूसरी ओर 'कोणार्क' के द्वारा नाटक के स्तर को आंतरिक अनुभूति और काव्य-स्तर से जोड़ देना, रंगमंच पक्ष के तत्त्वों का समन्वय कर एक नया रंग-प्रयोग करना—ये सारे लक्षण तथा विशेषताएँ 'कोणार्क' की हैं। 'कोणार्क' की समूची संरचना में मन्दिर के गिरने का कार्य है। उस पर रेडियो-शिल्प का अमिट प्रभाव है। रेडियो के इस तत्त्व ने नाटक के अन्तिम भाग को रंगमंच के स्तर से निर्बल बनाया है, यह सत्य स्पष्ट है।

स्वतन्त्रता के बाद आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच का महत्त्वपूर्ण चरण प्रारम्भ होता है। परम्परा, प्रयोग, प्राचीन और नवीन, पूर्व और पश्चिम, इन सब रंग-दृष्टियों का सम्यक् अध्ययन प्रारम्भ हुआ। इससे भी आगे व्यावहारिक नाट्य प्रशिक्षण, रंग-अध्ययन और प्रस्तुतीकरण के क्षेत्र

में व्यावहारिक कार्य शुरू हुए। हिन्दी-क्षेत्र के प्रमुख नगरों में संस्कृत, अंग्रेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के नाटक खेले जाने लगे तथा नाटककार पहली बार रंगमंच से व्यावहारिक क्षेत्र में आया तथा अभिनेता रंगशिल्पी और दर्शक के बीच बैठकर कार्यरत हुआ। इस व्यापक परिवेश और रंग-चेतना के भीतर से कई महत्त्वपूर्ण शक्तिशाली नाटककार हिन्दी में आए जैसे सर्वश्री लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती। 'सूर्यमुख', 'व्यक्तिगत', 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', 'आषाढ़ का एक दिन', 'आधे अधूरे' और 'अंधा युग' इन सभी नाट्य-कृतियों में अभूतपूर्व शक्ति यह है कि इनमें रंगमंच पक्ष और साहित्य पक्ष, दोनों अपने श्रेष्ठ बिन्दुओं पर प्रतिष्ठित हैं और इन सबमें व्याप्त जीवन-बोध और रंग-दृष्टि आधुनिकता के अनेक सन्दर्भों में सार्थक है।

□

भूमिका

आज जब अपने रंगमंच का तनिक बोध हुआ तो अब नाटक लिखते समय बड़ी पीड़ा से गुजरना पड़ता है। जिस मंच पर अपने-आप को लिए जा रहा हूँ वह कितना बेघर है— यह दर्द टीसता रहता है। उसी पीड़ा ने मुझे दिखाया है कि पश्चिम की आधुनिकता ने हमारे रंगमंच को कितना उखाड़ा है और बेघर किया है। और बेघर किया है आधुनिक रंगमंच के नाम पर। पश्चिम का आधुनिक रंगमंच मेरी समझ से पश्चिमी संस्कृति का सूर्यास्त काल है। जो उसके ह्रास के चरम बिन्दु हैं, उनको महिमा-मंडित कर हम आधुनिक काल कहते हैं और अपने भारत देश, काल की उपेक्षा कर रहे हैं। जहाँ इस कदर उखड़े और बेघर होने के बावजूद अभी कुछ जीवन बचा हुआ है, कला की रोशनी बची हुई है। उखड़े होने का यही सबूत है कि हम अपने बचे हुए जीवन और रोशनी को अनदेखा कर रहे हैं।

आदमी बेघर तभी होता है जब वह अपनी संस्कृति से उखाड़ा जाता है। जब वह अपने जीवन-स्रोत से कटता है। आधुनिकता ने इसी धरातल पर हमें उखाड़ा है। उन्नीस सौ सैंतालीस तक वह प्रक्रिया पूरी कर उन्होंने हमें स्वतन्त्र नहीं, आजाद करके यह कहा कि भारतवर्ष में अपना कुछ रहा नहीं। अपना कुछ कर सकने की सम्भावना भी नहीं रही, इसलिए हमसे सीखो। हमसे लो। और नाटक रंगमंच के जितने प्रकार सम्भव हैं, जितनी विषयवस्तु चाहिए, हमसे लो। और नए-नए नाटक लिखो। भूल जाओ अपनी नाट्य और रंग परम्पराओं को। हमसे लो। हमारा काम करो। जब तक अपनी संस्कृति थी, हमसे ऐसी बात कोई नहीं कह सकता था।

जब तक अपनी संस्कृति थी तब तक सबका जीवन, कला, धर्म साहित्य, पूरा विराट जीवन हमारे भीतर परिव्याप्त था। हमें अपनी कला, अपनी प्रतिभा समझने में जरा भी देर नहीं लगती थी। नाटककार के आसपास अभिनेता, रंगकर्मी, दर्शक समाज, सब एकजुट थे। रंगमंच का प्रत्येक अंग, नाट्य का हर पक्ष एक-दूसरे में परिव्याप्त था। कहीं कोई बाधा नहीं थी। क्योंकि संस्कृति अबाध थी। नाटककार जिस शब्द, जिस प्रतीक, जिस भाव और विचार को अपने नाटक में प्रयुक्त करता था, उसे सहज ही सब लोग समझ लेते थे। समझ से भाव, भाव से रस। आज जब अपनी संस्कृति नहीं है, तब नाटक लिखना कितना संकटपूर्ण काम है! नाटक और रंगमंच के सारे अंग बिखरे हैं। नाटककार कहीं, अभिनेता कहीं, दर्शक कहीं। सबकी भाषा का अर्थ अलग-अलग। तब कैसे हो नाटक?

जब अपनी संस्कृति थी, तब स्वभावतः उसकी अपनी भाषा थी। भाषा के माध्यम से सारी जीवन-ऊर्जा, साहित्य, कला, मनोरंजन के सारे प्रकार उसी संस्कृति से सहज ही फूटते-निकलते थे। सारा समाज उसी संस्कृति से जुड़ा-बंधा था। नाटककार, अभिनेता, रंगकर्मी, दर्शक समाज सब परस्पर एकाकार थे।

जोड़ने वाला वही एक तत्त्व था—अपनी संस्कृति। संस्कृति से समाज को जोड़े रखने में मुख्य थी 'कथा'। नृत्य, संगीत, नाटक, मूर्ति-स्थापत्य कला, लोगों का मिलन-जुलन, कर्म, दुःख-सुख सबके बीच में वही कथा-सूत्र था।

हमारे नाटक का मूल, कथा। कथा में ही नाटक का वस्तु। वस्तु में पात्र। पात्र उसी वस्तु को धारण करने वाला। पात्र से ही अभिनेता दर्शकों को रस पिलाता था। और दर्शक एकात्म हो पीते थे।

यह कैसे सम्भव होता था?

वही संस्कृति सम्भव कराती थी। सारे तार जुड़े थे, इसलिए बिजली चारों तरफ धड़ से पहुँच जाती थी। लोग अकेले-अकेले नहीं थे, पूरे

समाज थे। इसलिए एक ही कथा कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक, सौराष्ट्र से लेकर अरुणाचल-मेघालय तक समान रूप से प्रचलित थी—इतनी अलग-अलग भाषाओं और बोलियों के बावजूद।

संस्कृति क्या है? अपने जीवनमूल्यों की सनातनता, अबाधता। जैसे गंगा नदी, हिमालय पर्वत, हमारी कथाएँ हमारे सनातन पात्र और विश्वास।

मैं यहाँ केवल कथा की ही चर्चा करता हूँ। सांस्कृतिक संदर्भ में कथा क्या है? कथा है। यह गढ़ी या बनायी नहीं जाती। गढ़ी-बनाई जाती है कहानी, 'प्लाट'। कथा समाज है, सामाजिक है। कहानी 'मैं' है। कथा में समय काल है। कहानी या 'प्लाट' में समय बीतता रहता है। कथा जीवन और समय की लीला है। उसके विपरीत कहानी जीवन और समय का मालिक बन ऐंठकर चलती है। और कहती रहती है कि देखो, मैं ही हूँ केवल। कथा हमारे भीतर से गुजरती है और क्रीड़ा भाव से मुस्कराती है। कहानी का स्रोत इतिहास है। कथा का स्रोत जीवन की सनातनता है। कहानी यथार्थ का अहंकार है। इसीलिए कहानी में न आदि है न अन्त। कथा का आदि है, कथा का समापन है। कथा का सुमिरन है, कथा का विसर्जन है।

वही कथा हमारी परम्परा है, जो इतिहास और कहानी की तरह सीधे न चलकर पूरे चौक और वृत्त में घूमती है।

हजारों साल पुरानी भारतीय संस्कृति को जब एक ऐसी संहारी ध्वंसात्मक लोलुप सभ्यता का सामना करना पड़ा था, जो प्रगति और आधुनिकता के नाम पर हमारी परम्परागत दृष्टि को नष्ट कर रही थी, तो हमारे पुरखों ने अपनी इसी 'कथा' को उस विनाश में भी सुरक्षित रखा।

कथा नाट्य के स्थान पर पश्चिमी 'ड्रामा' आ गया। कथा का अभिन्न दर्शक 'ड्रामा' का गूँगा गवाह हो गया, जिसके सामने एक ऐसा ड्रामा खेला जा रहा था जिसकी भाषा तक वह नहीं जानता था। जिस पर उसका कोई अधिकार नहीं था। पर वह और हम सब उस ड्रामा से आक्रान्त थे, क्योंकि वह आधुनिक था। क्योंकि उसका रंग शिल्प और

नाट्य कला दोनों ही हमारे लिए अजनबी थे।

यह कैसी विडम्बना है कि मैं उस 'ड्रामा' का मूक गवाह हूँ, जिसने पिछले दो सौ वर्षों से मेरी संस्कृति, मेरे कथा-नाट्य की लय और गति को तोड़ दिया, पर अपनी कथा का दर्शक नहीं रहा, तभी तो दूसरे का मूक गवाह हो गया।

इसीलिए नहीं कि मैं भारतीय हूँ, भारत का नाटककार हूँ, मेरा यहाँ जन्म हुआ है. बल्कि मेरा सारा दुःख-दर्द इसलिए है कि अपने समस्त भारत प्रेम के बावजूद मैं भारत से उखड़ा हुआ हूँ। और मूक दर्शक की तरह देखता हूँ कि उस उखड़ने के बावजूद अपने अवचेतन जगत् से ही सही, अपने नाट्य-कर्मकाण्ड और मिथक-संसार से न जाने कैसे कहाँ जुड़ा हुआ हूँ।

सम्भवतः कथा की यही भूमिका है। कथा-सुमिरन ही हमें यह बोध देता है कि हममें यदि इतिहास बोध का अभाव है तो उसका कारण हमारी विशेष संस्कृति है—जहाँ अतीत और वर्तमान अलग-अलग स्वायत्त खण्डों में विभाजित नहीं हैं। जैसे कि समस्त यूरोपीय निवासी पूरी तरह से और उसकी थोपी हुई आधुनिकता के प्रभाव में वर्तमान शहरी भारत-वासी दुविधा के साथ महसूस करता है कि अतीत से वर्तमान बिल्कुल अलग है।

पर यहीं एक गम्भीर रहस्य छिपा है, जिसका बोध मुझे हुआ, प्रसिद्ध समाजशास्त्री, निर्मल बुद्धि के धनी मेरे मित्र प्रोफेसर ब्रह्मदेव सोनी के सत्संग से। यूरोपीय अपनी इतिहास-दृष्टि से देखता जरूर है कि अतीत और वर्तमान अलग-अलग स्वायत्त खण्डों में विभाजित हैं, पर वह सांस्कृतिक रूप से जीता है अपनी सनातनता में, क्योंकि उसकी संस्कृति आदि से उसके वर्तमान तक अबाध है। रोमन से लेकर क्रिश्चियन, रेनेशां और उन्नीसवीं सदी तक उसकी संस्कृति अकाट्य रूप से फलती-फूलती रही है। वे हमें योजनापूर्वक बेवकूफ बनाते हैं कि प्राचीन और आधुनिक अलग-अलग हैं। पर स्वयं वे जितने आधुनिक हैं उतने ही प्राचीन हैं। क्योंकि उनकी संस्कृति कभी टूटी नहीं है। वह सदा जीवित रही है। मार्क्स और फ्रायड के दर्शन में रोमन, क्रिश्चियन, रेनेशां के तत्त्व मौजूद

हैं। इसी तरह आइनेस्को और ब्रेख्ट के नाटकों में रोमन, ग्रीक और एलिजाबीथन रंगमंच के तत्त्व विद्यमान हैं।

यूरोप ने हर कीमत पर अपनी संस्कृति जीवित रखी। उसी सांस्कृतिक शक्ति से उन्होंने दूसरों की संस्कृतियाँ नष्ट कीं। हमें अपनी संस्कृति से उखाड़कर उन्होंने हमारी सूखी जड़ पर आधुनिक 'इकेबाना' की फूल-पत्ती सजाने की कोशिश की। यही है भारतवर्ष की आधुनिकता और आधुनिक कला।

सूखे-कटे-टूटे मूलजड़ पर कभी कोई बीज अपनी जड़ बो देता है। कुछ भारतीय वृक्ष की टहनियाँ और कुछ पौधे ऐसे होते हैं जो सूखे, उजाड़ भूमितल पर भी तनिक-सी आर्द्रता और ऊष्मा के सहारे अपनी जड़ जमा लेते हैं। अपने सांस्कृतिक संदर्भ में कथा का बीज-रोपन वही प्रयास है।

अपनी कथा का सुमिरन, 'कथा विसर्जन' है। कथा मैंने नहीं कही। कथा से 'मैं' का कोई सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। कथा तीन धरातल पर सम्भव है —देवता, मुनि और पंछी। नाट्य में नट-नटी के धरातल पर कथा कही नहीं जाती, कथा दिखाई जाती है। तभी इस नाट्य के दर्शक समाज में देवता, मुनि, पंछी, मनुष्य सब एक साथ बैठते हैं।

यह कल्पना कही जाएगी आज। बल्कि कठिन कल्पना। नट-नटी से वर्तमान नाट्य को जोड़ना अपनी परम्परा से जुड़ने का प्रयास है। यह प्रयास उस समय जब भीतर और घर पर बाहर इतना हावी है। जब यथार्थ के आगे कथा बगली झाँक रही है। जब पश्चिम हम पर पूरी तरह से सवार है।

'कथा विसर्जन' नाट्य को अपने साथ लिए हुए नट-नटी हमें क्रीड़ा-भाव से देखकर मुस्कराते हैं, देखो यह वही रास्ता है, जिस पर से हम कितने सौ साल पहले गुजरे थे। यहीं हमारी वह भेंट हुई थी। यह स्मृति का खेल नहीं है, यही हमारा नाट्य है। 'कथा विसर्जन' और आवाहन दोनों एक हैं, जैसे संस्कृति और नाट्य कर्म एक हैं।

यह बात आज तब कहना कितना आश्चर्यजनक और पीड़ादायक है, जब अपनी संस्कृति ही न हो। इससे कितना संक्रान्त होता है अपने भीतर। हमें ऐसे ही क्षणों में अनुभव होता है कि जो हमें परम्परा से दिया गया है

वह, और जो अनुभव हमें अपनी पीड़ा से होता है, दोनों से हम स्वयं परम्परा बनते हैं—अर्थात् परम्परा हममें आकर परिव्याप्त हो जाती है। और हमीं से परम्परा आगे बढ़ती है।

'कथा विसर्जन' नाटक को अपनी परम्परा से इसीलिए जोड़ सका कि इस नाटक की मूल मात्र 'माँ' अपनी जड़ों से जुड़ी थीं। उनमें आत्म-उन्मूलित होने का किसी प्रकार का अनाथ भाव नहीं था।

'कथा विसर्जन' से अपने मूल से जुड़ाव की स्मृति का सारा श्रेय इस नाटक की माँ को है। उन्होंने ही गुरु बनकर दिखलाया। मैंने कुछ नहीं देखा, क्योंकि देखने वाला समष्टि के साथ एकात्म हो चुका।

नई दिल्ली

—लक्ष्मीनारायण लाल

नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल और उनकी कृतियों का परिचय

लक्ष्मीनारायण लाल आधुनिक हिन्दी साहित्य के परम महत्त्वपूर्ण नाटककार, कथाकार और साहित्य के विभिन्न अंगों के मर्मज्ञ और कला-जीवन के चिन्तक हैं। इन्होंने मौलिक साहित्य सृजन के साथ-ही-साथ मौलिक जीवन चिन्तन में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

जयशंकर 'प्रसाद' के बाद मोहन राकेश और लक्ष्मीनारायण लाल ही वे दो नाटककार हुए हैं जिन्होंने सही और सम्पूर्ण अर्थों में हिन्दी नाट्य को आधुनिक बनाया। विशेषकर लाल का नाम इसलिए सर्वाधिक उल्लेखनीय है कि इन्होंने अपने नाटकों द्वारा एक ओर भारतीय रंगमंच की जीवंत परम्पराओं, प्रेरणाओं को अपने नाट्य लेखन में नये संदर्भ दिये और दूसरी ओर इन्होंने भारत के 'नाट्य' को, उसके रंगमंच की प्रकृति को गहराई से समझकर देखा है। इन्होंने भारतीय और पाश्चात्य नाट्य के समन्वय के विश्वास का खंडन किया है। इनका कहना है कि पूर्व और पश्चिम का कभी समन्वय नहीं हो सकता, विशेषकर कला और साहित्य सृजन के क्षेत्र में।

जीवन परिचय :

लक्ष्मीनारायण लाल का जन्म ४ मार्च, १९२७ में उत्तरप्रदेश के बस्ती जिले के एक गाँव जलालपुर में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के स्कूल में और हाई स्कूल, इन्टरमीडियट शिक्षा बस्ती शहर में प्राप्त की। सन् १९५० में प्रयाग विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० और 'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि' पर सन् १९५२ में डाक्ट्रेट।

इसके बाद प्रयाग विश्वविद्यालय और दिल्ली विश्वविद्यालय के कॉलेजों में अध्यापक होकर विश्वविद्यालय की उच्चस्तरीय शिक्षा और अनुसंधान कार्यों में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस बीच कुछ दिनों के लिए आकाशवाणी में ड्रामा प्रोड्यूसर। सन् १९६४ में विश्व नाटक सम्मेलन, रूमानिया में भारतवर्ष की ओर से अकेले नाटककार के रूप में प्रतिनिधित्व किया। 'नेशनल ग्रीक थियेटर', एथेन्स में आमंत्रित किये गये।

इलाहाबाद में नाट्य केन्द्र 'स्कूल ऑफ ड्रामेटिक आर्ट्स' की स्थापना और इनके द्वारा उसके संचालन और निर्देशन ने हिन्दी क्षेत्र में नाटक और रंगमंच के प्रति लोगों में गहरी रुचि पैदा की। अनेक अभिनेता, निर्देशक इस नाट्य केन्द्र से रंग-संस्कार और प्रशिक्षण लेकर हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में कार्यरत हुए।

दिल्ली में रंगमंच संस्था 'संवाद' का निर्माण कर और दिल्ली विश्वविद्यालय में एम० ए० हिन्दी के पाठ्यक्रम में नाट्यक्रम और रंगमंच का प्रशिक्षण और अध्यापन कर लाल ने राजधानी में गंभीर कार्य किया।

कृतियाँ :

'मादा कैक्टस' नाट्यकृति के साथ लाल ने हिन्दी नाट्यक्षेत्र में पदार्पण किया। इससे पूर्व कुछ एकांकी लिखकर अपने विद्यार्थी जीवन से इन्होंने लोगों का ध्यान आकृष्ट किया -- विशेषकर डाक्टर रामकुमार वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का ध्यान। विद्यार्थी जीवन में लिखे हुए वे एकांकी नाटक क्रमशः 'ताजमहल के आँसू' और 'पर्वत के पीछे' एकांकी संग्रहों में संगृहित हैं।

'मादा कैक्टस' लाल का पहला नाटक है जिसमें कैक्टस पौधे का यह प्रतीक लेकर कि मादा पौधे के सम्पर्क में आने से नर पौधा सूखने लगता है, लेखक ने नर-नारी के सामाजिक सम्बन्धों की सार्थकता-निरर्थकता को प्रस्तुत किया है। एक चित्रकार है अरविन्द जो अपनी पत्नी सुजाता को इसलिए छोड़ देता है कि उसका सम्पर्क उसकी कलासाधना को निस्सार बनाने वाला है; लेकिन वही जब एक और युवती मीनाक्षी से प्रेम करने लगता है परन्तु सम्बन्धों के स्थायित्व से कतराता है तो उसकी निरर्थक कलासाधना को एक विडम्बना के रूप में नाटक में उभारा गया है। अरविन्द के मित्र सुधीर की जीवन्त उन्मुक्तता, पिताजी का संयत व्यंग्य तथा नौकर गंगाराम की आत्मीयता ये तीनों मिलकर अरविन्द के व्यक्तित्व के लिए अच्छा नाटकीय वैषम्य बने हैं। सुधीर की बन्द मुट्ठी में अबूझी वस्तु से 'मादा कैक्टस' नाटक की आरम्भ से ही ध्यानाकर्षणा सफल रही है। 'मादा कैक्टस' नाटक का प्रतीक नया और सटीक है। रंगमंच और शिल्प की दृष्टि से भी इसकी सफलता असंदिग्ध है क्योंकि इसमें आधुनिक नाट्य-विधि का अच्छा उपयोग हुआ है। आकाशवाणी मंच, इलाहाबाद द्वारा सन् १९५६ में इसका पहला सफल प्रदर्शन होने के बाद अन्य अनेक प्रदर्शनों से इसकी नाटकीय सम्भावनाएँ और अभाव भी उजागर हुए हैं। इन्हें लक्ष्य करके लाल ने नाटक के नये संस्करण में संशोधन स्पर्श भी किए हैं।

इलाहाबाद के नाट्य केन्द्र के जीवनकाल में लाल ने 'सुन्दर रस', 'रातरानी', 'तोता मैना' (अब 'सगुन पंछी'), 'दर्पण' और 'रक्त कमल' नाटकों की रचना की। ये नाटक पूरे हिन्दी क्षेत्र में प्रस्तुत होने लगे। कलकत्ता, बम्बई और दिल्ली की प्रसिद्ध नाट्य संस्थाओं जैसे 'अनामिका' (कलकत्ता), 'थियेटर यूनिट' (बम्बई) आदि ने इन नाटकों को प्रस्तुत किया।

'रातरानी' आदर्शवादी समस्या-प्रधान नाटक है। इसमें अधिकारप्रिय पुरुष और समर्पिता किन्तु निजी व्यक्तित्व की रक्षा में लगी नारी के द्वन्द्व को लेकर दाम्पत्य जीवन की समस्या उठाई गई है। दम्पती (जयदेव और कुन्तल) में प्यार तो है, लेकिन पति 'पुरुष' होने के कारण अपनी मर्जी और निर्णय को पत्नी से ऊपर समझता है। वह अर्थ-प्रधान युग के उद्योग-पति शोषक का प्रतीक भी है। पत्नी इसके विपरीत आदर्शवादिनी, उदार, दयालु है तथा 'प्यार' (भोग) की बजाय 'प्रेम' (आन्तरिक मिलन) को श्रेष्ठ समझती है (प्यार और प्रेम का यह अन्तर लेखक ने ही किया है)। नाटक में आदर्शवाद और काव्यात्मक आग्रह ज्यादा है। कुन्तल के अतिरिक्त कुन्तल का पूर्व मंगेतर निरंजन और माली इसके अन्य उदाहरण हैं। नाटक का अन्त भी इसका प्रमाण है।

लाल के प्रारम्भिक नाटकों में 'दर्पण' का विशिष्ट स्थान है। इसका साहित्य पक्ष भी उतना ही प्रभावशाली है जितना रंगमंचीय। नाटक का मूल प्रश्न है कि हमारा जीवन हमारा है या नहीं ? क्या हम पैदा होने से लेकर मृत्यु-पर्यन्त भौतिक रूप से अपनी इच्छानुसार जीते हैं या इसका निर्णय कोई और ही करता है ? इस प्रश्न को समझने में ही सारा नाटक चलता है और जब उत्तर मिलने लगता है तो नाटक का अन्त यह सिद्ध कर देता है कि मनुष्य चाहकर भी अपने जीवन को अपना नहीं कह सकता। वह परिस्थितियों का भी दास है और इन परिस्थितियों के मूल कारण अन्य व्यक्तियों का भी। नाटक की प्रमुख पात्र पूर्वी नामक युवती एक ऐसी ही नारी है जिसे शैशव में ही बौद्ध विहार को दान कर दिया गया था। भिक्षुणी बनकर मानवता की सेवा करती हुई करुणामयी पूर्वी (जो वास्तव में दर्पन है) अपने धार्मिक बन्धनों से मुक्त लौकिक नारी का जीवन जीने की इच्छा से बौद्ध विहार को छोड़कर भाग जाती है। वह भटकती हुई और स्वभाव-संस्कारवश दीन-दुखियों की सेवा करती हुई अन्त में एक

मनचाहा युवक पा जाती है जो उसकी शुश्रूषा से प्राणदान पाकर प्रेम करता है। उससे विवाह करने को कटिबद्ध होकर अपने रूढ़िवादी पिता को भी अनुकूल कर लेता है लेकिन पूर्वी बनी दर्पन अपने पूर्वाग्रहों को पूरी तरह छोड़ नहीं पाती और आह्वान पाकर पुनः विहार में लौट जाती है। नाटक में नायक हरिपदम से अधिक प्रभावशाली चरित्र उसके भाई सुजान का है लेकिन पूर्वी की विवशताभरी जिजीषिका के तनाव का नाटकीय संवेदन सबसे अधिक प्रभावशाली है। जीवन को भरपूर जीने की आकांक्षा में आयी धार्मिक, नैतिक और सामाजिक बाधाओं से पूर्वी का चरित्र स्मरणीय हो जाता है। सहज मानवीय सम्बन्धों की तलाश में कोढ़ी (जो स्वस्थ होकर दण्डी कहलाता है) और तपेदिक के रोगी व्यक्ति का सन्दर्भ भी सहज और प्रासंगिक है। दर्पन का प्रतीकार्थ भी अच्छा उभरा है। हरिपदम को पाकर अपने भुलाने योग्य अतीत का साक्षात्कार न करने के लिए पूर्वी का दर्पन से कतराना और नाटक के अन्त में हरिपदम का जीवन दर्पन का पारदर्शी प्रतीत होना गहन व्यंजनाओं से युक्त है।

दिल्ली में आकर रहते हुए लाल ने 'कलंकी', 'मिस्टर अभिमन्यु', 'कर्फ्यू', 'अब्दुल्ला दीवाना', 'व्यक्तिगत', 'नरसिंह कथा', 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', 'यक्ष प्रश्न', 'सगुन पंछी' और 'सूर्यमुख' आदि अनेक नये नाटकों की रचना की है। इनमें से अधिकांश को नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा', 'अभियान', 'एल० टी० जी०' और 'यांत्रिक' जैसी संस्थाओं या नाट्यदलों ने समय-समय पर प्रस्तुत किया है। उपर्युक्त में से अनेक का अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुआ है और लाल की नाट्यप्रतिभा की राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठा हुई।

'कलंकी' नाटकों में स्थापित रंगमंच की जड़ता या रूढ़ परम्परा को तोड़कर जीवन यथार्थ को रूपकात्मक पद्धति से प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक जीवन सन्दर्भ को तान्त्रिक परिवेश के अयथार्थ से मिथकीय रूप देकर रहस्योद्घाटन करने की जागरूक चेतना इस नाटक में मिलती है। हमारे जीवन में धर्मभय, मृत्युभय, पापभय आदि का कुछ ऐसा दबाव है कि एक ओर तो यह जड़ विश्वास और अन्धी आकांक्षाओं को जन्म देता है और दूसरी ओर निरंकुश शक्तियों को— ये धार्मिक भी हो सकती हैं,

सामाजिक भी और राजनीतिक भी। नाटक में तंत्र साधना चर्यागीत, बीजाक्षर और मन्त्रों का सोद्देश्य प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है जिनसे पलायन, अप्रासंगिकता और रहस्य की सृष्टि की गई है। कलंकी नगर के अतीत में हूणों के भयानक उत्पात का सन्दर्भ देकर ऐसे सीधे-सादे नागरिक बनाये गये हैं जिन्हें एक शासक नेता की जरूरत है। इन जड़ नागरिकों में जीवनबोध नहीं, मात्र अस्तित्व बोध है। ये निरक्षर, आलसी, अन्धविश्वासी, भयभीत और आदिम मनोभावों वाले हैं, जिनका लोकधर्मी जीवन दिखाने के लिए गायन-वादन, दर्शन, इतिहास, पुराण गाथा और कर्मकांड—इन सबका एक बिन्दु पर समायोजन किया गया है।

'मिस्टर अभिमन्यु' नाटक में मनुष्य की नियति की विडम्बना प्रस्तुत की गई है। व्यवस्था के चक्रव्यूह में फंसा हुआ आज का मनुष्य अभिमन्यु जैसा ही है लेकिन वह महाभारत के अभिमन्यु से भिन्न है। वह अभिशप्त है। वह चक्रव्यूह में शौर्य प्रदर्शन के लिए नहीं घुसता और न ही उसे तोड़कर वीरगति का परमपद पाता है। नाटक का नायक एक कलक्टर राजन है जो व्यवस्था को नापसंद करते हुए उसे छोड़ना चाहते हुए भी नहीं छोड़ पाता। उसका अन्तःसंघर्ष ही उसका चक्रव्यूह है। यह चक्रव्यूह उसके माध्यम से आधुनिक मनुष्य का है। हर व्यक्ति ऐसे किसी-न-किसी चक्रव्यूह से घिरा हुआ है जिससे बाहर निकलने की पर्याप्त इच्छा और संकल्प उसके पास नहीं है। उसकी त्रासदी यह नहीं कि वह अभिमन्यु है, बल्कि यह है कि वह अभिमन्यु नहीं है, वह 'मिस्टर अभिमन्यु' है। रूपक का ऐसा सार्थक प्रयोग प्रस्तुत नाटक की विशेषता है। पौराणिक चरित्र को नये मंच पर, नये संदर्भ में रखकर वर्तमान युग की विडम्बना का उद्घाटन कठिन काम होता है, लेकिन 'मिस्टर अभिमन्यु' में यह सफलतापूर्वक हुआ है। इसमें दो युगों की दो स्थितियों का अन्तर रखकर भी आधुनिक त्रासदी उजागर होती है। इसमें लाल ने अपने समाज से प्रश्न करने का सबसे सार्थक और साक्षात् माध्यम इस्तेमाल किया है। राजन के शत्रु भीतरी द्वन्द्व और बाहरी व्यक्ति तथा व्यवस्था हैं जो उसे व्यूह छोड़ने को उकसाते हुए भी घेरे रहते हैं। दो राजनीतिज्ञ, राजन की पत्नी और पिता तथा

एक संभ्रान्त अफ़सर की बीवी राजन की लाचारी और निरीहता को प्रस्तुत करते हैं। राजनीति का भ्रष्ट तंत्र और उसमें नौकरशाही को फंसाये रखने का षड्यन्त्र वर्तमान व्यवस्था का एक और आयाम है जिस पर यह नाटक चोट कर खोखलेपन को भी समझा देता है।

हमारे समसामयिक समाज में मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध सीमाओं में रहकर ही बनते और पलते हैं। सारे जीवन पर मानो अनेक प्रकार के कर्फ्यू लगे हुए हैं जिन्हें तोड़कर बाहर आने का साहस किसी में नहीं है—इस थीम को लेकर 'कर्फ्यू' नाटक लिखा गया है। जीवन का सबसे अन्तरंग सम्बन्ध (विवाह या प्रेम विवाह से बना पति-पत्नी का सम्बन्ध) भी थोड़ी-सी पहचान का कर्फ्यू लगाकर निकट रहने की कृत्रिमता या विवशता या फिर ढोंग बनकर रह जाता है। नाटक के बाहरी परिवेश में उपद्रव को दबाने के लिए शहर में लगे कर्फ्यू के माध्यम से जीवन के 'रॉयट' और कर्फ्यू का प्रतिबिम्ब और प्रसार दिखाते हुए इसमें गौतम और कविता नामक एक दम्पती, मनीषा नामक एक उन्मुक्त युवती और संजय नामक अभिनेता के सम्बन्धों में घिर आई पाबंदियों का असहज यथार्थ प्रस्तुत किया गया है। इसी बौद्धिक, शारीरिक और मानसिक कर्फ्यू में जीवन शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्ति सहसा अपराध (रॉयट) कर बैठते हैं क्योंकि वे भीतर की वर्जनाओं को तोड़ना चाहते हैं। नाटकीय घटना के रूप में गौतम-मनीषा और संजय-कविता का एकान्त सहवास वास्तविक सम्बन्धों की तलाश बनता है और गौतम-कविता के नये दाम्पत्य की बुनियाद डालता है। सहज, निर्बन्ध और एक प्रकार के उच्छृंखल, प्राकृतिक देह-सम्बन्धों को स्वीकार करते हुए इस नाटक में तथाकथित वर्जनाओं के विरुद्ध जैविक आवश्यकताओं की साहसपूर्ण स्वीकृति भी है। नाटक का कई बार सफल प्रदर्शन इसके नाटकीय प्रभाव को रेखांकित करता है। पहले के सभी नाटकों से यह अधिक नाटकीय है।

'अब्दुल्ला दीवाना' मूर्ति-भंजक और तिलमिलाने वाला व्यंग्य नाटक है। राजनीति, समाज, धर्म, अर्थ-व्यवस्था और नैतिकता के पाखंडों को निर्भीकता से तोड़ने वाले इस नाटक में लाल अद्भुत रूप से अभावुक और निर्मम हैं। आज़ादी मिलने के बाद हमारे देश की चेतना (अब्दुल्ला)

किस प्रकार मारी गई या यदा-कदा पुनः सिर उठाते ही मारी जाती है उसे ही यह नाटक बेझिझक खोल देता है। महत् मूल्यों के अब्दुल्ला की जगह जो ढोंग, अवसरवाद और स्वार्थ-सिद्धि का समाज उभरा है वह सुविधा-प्रिय पशु समाज है जिसका अस्तित्व कैंसरग्रस्त है। नाटक के सारे चरित्र नाटक का भ्रम जैसा पैदा करके मानो समाज (या दर्शकों) से ही इसके लिए अभियोग लगाते हुए सवाल करते हैं। इस तरह यह नाटक अलग, मंच का खेल या मनोरंजक तमाशा न रहकर, जनता के बीच आ जाता है और उससे सीधे संवाद करता है। यह नाटक लाल की प्रतिभा की एक नई और प्रखर पहचान कराता है।

लाल का 'व्यक्तिगत' नाटक स्वातन्त्र्योत्तर भारत के जीवन नाटक को एक बहुआयामी पात्र 'मैं' के माध्यम से प्रस्तुत करता है। यह एक ऐसा 'मैं' है जो हमारी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था और उनकी शक्तियों से पैदा हुआ है। यह पूंजीपति, नेता और भोक्ता सब कुछ है जिसका जीवन केवल शोषण करना ही है। वह रचना नहीं जानता, जीना नहीं जानता, सिर्फ होता है। लेकिन एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व की जगह वह दर्पण के टूटे हुए टुकड़ों जैसा हो जाता है, जिसमें शुद्ध 'मैं' की बजाय 'मैं' के खण्डित प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ते हैं। प्रस्तुत नाटक में मंच के लिए खुलापन और सूक्ष्म प्रतीक के कारण अनेक संभावनाएँ हैं।

'नरसिंह कथा' में निरंकुश सत्ता के विरुद्ध प्रजातांत्रिक मूल्यों का संघर्ष और विजय प्रदर्शित है। यहाँ 'मिस्टर अभिमन्यु' से भिन्न पद्धति अपनाकर पौराणिक कथा की प्रासंगिकता खोजी गई है। जहाँ पूर्वोक्त में अभिमन्यु के प्रतीक आधुनिक अभिमन्यु का संघर्ष और विकल्प दिखाया गया है वहाँ प्रस्तुत नाटक में पौराणिक कथा को ही आधुनिक संदर्भ में पहचानने का प्रयत्न हुआ है। आध्यात्मिक मूल्यों की बजाय इसमें राजनीतिक मूल्यों की तलाश की गई है। स्वतंत्रता निरंकुश हो जाने पर परम विकृति में बदल जाती है। आत्म-समर्पण और विश्वात्मा के साथ मिलन में जो स्वतन्त्रता मंगलमय और मानवीय होती है, वही स्वार्थी होकर अहंकारग्रस्त एवं परम हिंसक हो उठती है। लाल के अनुसार इसी अर्थ में हिरण्यकशिपु मर-मर कर फिर अधिनायकवाद के रूप में जी उठता है और मानव स्वतन्त्रता को

राग-द्वेष रहित होकर उससे युद्ध करना पड़ता है। आज इसी प्रकार "पुराण कथा, पौराणिक चरित्र, पुराण की घटनाएँ हम फिर से भोग रहे हैं। अपने समय में, अपने अर्थों में। यहाँ पुराण तत्त्व जीवन तत्त्व हो गया है।" यही इस नाटक का विषय और जीवन दृष्टि है।

नाट्यस्वरूप, रंगशिल्प और प्रभाव की दृष्टि से एकदम आधुनिक नाटक है लाल का 'एक सत्य हरिश्चन्द्र'। नाट्यवस्तु, कथ्य और रंग-शैली का अपूर्व संयोग दिखाने वाला यह नाटक शुद्ध भारतीय आधुनिकता का स्वरूप है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'सत्य हरिश्चन्द्र' की कथावस्तु और नाट्यसामग्री से भिन्न लाल ने इसमें राजनीति का आधुनिक संदर्भ और अर्थ खोजा है। नौटंकी पद्धति से हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा का प्रतीकात्मक गुम्फन नाटक को पैनापन और चुनौतीभरा व्यंग्य प्रदान करता है। संस्कृत नाट्यशैली के देशकाल परिवर्तन, कार्य के आरोहावरोह और वर्तुलाकार प्रत्यावर्तन को सर्जनात्मक ढंग से प्रयोग करके लाल ने अपनी आधुनिकता को परम्परा की प्रासंगिकता में सिद्ध कर दिखाया है। गाँव के चुनाव लड़ने वाले दो प्रतिद्वन्द्वी कुल, जाति, धर्म और लोकविश्वास का कैसा उपयोग-दुरुपयोग करके मतदाताओं को मूर्ख बनाते हैं इसे सत्यनारायण की कथा के प्रतीकात्मक सन्दर्भ में रखकर लाल ने इसमें राजा हरिश्चन्द्र-सम्बन्धी अन्धविश्वासी धर्म का और आज के सत्ताधारियों के सवर्ण-अछूत राजनीति के भय, आतंक और हिंसा का यथार्थ नाटक दिखाया है। सत्ताधारी देवधर बाबू प्रतिद्वन्द्वी लौका के राजनीतिक प्रभाव को समाप्त करने के लिए जब उसी के धार्मिक कार्यों और हरिश्चन्द्र नाटक में षड्यन्त्र करके घुसते और अभिनेता बनते हैं तो यह भूल जाते हैं कि काशी की प्रजा या नाटक के ग्रामीण दर्शक उलटे मुझे ही सत्ता-च्युत कर सकते हैं। नौटंकी के रूप में हरिश्चन्द्र-सम्बन्धी संदर्भ और उसका लोक-गायन पारम्परिक भाषाशैली वाली कला के अतिरिक्त विचार और दर्शन के धरातल पर भी यह नाटक अद्वितीय है।

लाल का 'सूर्यमुख' नाटक मंच पर तो १९७२ में खेला गया था, लेकिन उसके पाठ का संशोधित संस्करण इनके अन्तिम नाटक 'यक्ष प्रश्न' के बाद आया है। भागवत पुराण के आधार पर महाभारत के बाद

की यदुवंशियों की आत्मघातिनी लीला का कथा प्रसंग लेकर लाल ने मिथक तत्त्व का कौशल से प्रयोग इस नाटक में किया है। ऊपर से पौराणिक नाटक दिखाते हुए भी इसमें नई दृष्टि, मानव-सत्य को तलाश करने वाली आधुनिकता है। 'सूर्यमुख' प्रतीक है जिसके द्वारा कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और पत्नी वेनुरती का अवैध (?) प्रेम दिखाते हुए दोनों को आत्म-साक्षात्कार की ओर उन्मुख किया गया है। क्रान्तिचेता कृष्ण के बाद उन्हीं का पुत्र प्रेम के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति करता है कि अपनी धर्ममाता को माता नहीं, नारी के रूप में देखता है। महाभारत के धर्मयुद्ध के बाद यदुवंशियों का भोग-अधिकार, लूटपाट और बलात्कार अन्धकारग्रस्त युद्ध में बदल जाता है, जिसमें प्रद्युम्न और वेनुरती का प्रेम ही प्रकाश की अन्तिम किरण है। लेकिन उन्हें भी संशय और भय ही सताता रहता है। आज के परिवेश में राज्यलिप्सा के लिए लड़ने और जीने वाले लोग टुकड़ों पर झपट रहे हैं, यह सन्दर्भ भी खोजा जा सकता है।

'यक्ष प्रश्न' लाल के नवीनतम दो लघु नाटकों—'उत्तर युद्ध' और 'यक्ष प्रश्न' का संग्रह है। 'उत्तर युद्ध' बहुत छोटा है, जबकि 'यक्ष प्रश्न' उससे लगभग ड्योढ़ा है। दोनों नाटकों की कथा पाण्डवों के वनवास काल से सम्बन्धित है। दिल्ली की नाट्य संस्था 'नॉन ग्रुप' द्वारा दोनों नाटकों का एक ही दृश्यबन्ध पर प्रस्तुतीकरण यह भ्रम पैदा करता है कि 'उत्तर युद्ध' 'यक्ष प्रश्न' का पूर्वार्द्ध है, लेकिन बात ऐसी नहीं है। पांडव-वनवास की कथा से जुड़े होने और दोनों में पांडवों के प्रश्नों से कतराने की मनोभावना वाला साम्य होने पर भी मेरी दृष्टि से दोनों स्वतन्त्र कृतियाँ हैं। 'उत्तर युद्ध' की कथा बहुत संक्षिप्त है। स्वयंवर के बाद पाई हुई द्रौपदी को पाँच पांडव कैसे बाँटें, यही इसकी प्रकट समस्या है। लेकिन लाल ने द्रौपदी को शक्ति का प्रतीक बनाकर पांडवों को दुःशासन (भ्रष्ट सत्ता) और दुर्योधन (भ्रष्टों का सैन्य बल) के विरुद्ध विद्रोह और युद्ध के लिए उकसाया है। विदूषक के नवीन प्रयोग के द्वारा अतीत को वर्तमान से जोड़कर आधुनिक व्यक्ति पर व्यंग्य भी किया गया है कि उसके सामने प्रजातांत्रिक शक्ति का निरंतर अपहरण हो रहा है और वह मौन, निष्क्रिय या मात्र बहसों (उत्तर-युद्धों) में उलझा हुआ है। नाटक

का प्रारम्भ और अन्त पांडवों के मौन से और अंत में बेसहारा अपहृत द्रौपदी की असमर्थ चीख से दिखाना बड़ा सशक्त प्रभाव डालता है।

'यक्ष प्रश्न' इससे भी सशक्त कृति है जिसमें महाभारत के पक्ष को समय का प्रतीक बनाकर पांडवों/दर्शकों/पाठकों से सीधे सवाल किए गये हैं। हर व्यक्ति समय की अबाध धारा में अपने समसामयिक/वर्तमान के लिए उत्तरदाता होता है, चाहे वह साहित्यकार हो या सामान्य मनुष्य। जो इन प्रश्नों की चुनौती नहीं झेलते और अपने अहं में ही डूबे रहते हैं वे चार पांडवों की तरह मर जाते हैं लेकिन युधिष्ठिर जैसे उत्तर देकर—अपने अलावा दूसरे को भी महत्त्व देने से—अमर हो जाते हैं। लाल भी इन प्रश्नों से जूझे हैं। यक्ष बनकर वे प्रश्नाकूल खड़े हैं, सारे प्रश्न उनके विभिन्न अनुभवों के प्रतिनिधि हैं और उत्तर के रूप में वे नाटक से बाहर आ जाते हैं। शिल्प, दृश्यानुभूति, नाट्य चिन्तन और नाट्यकथा सभी दृष्टियों से यह लघु नाटक लाल की सर्वोच्च कृति है।

इधर इनकी नाट्य कृतियों में 'अंधा कुआं', 'बलराम की तीर्थयात्रा' और 'कथा विसर्जन' प्रमुख हैं। इनके मंच प्रस्तुतीकरण प्रसिद्ध हैं।

मौलिक नाट्य रचना के साथ-ही-साथ रंगमंच प्रदर्शन, निदर्शन से गहरे रूप में सम्बद्ध रहने के कारण लाल ने रंगमंच अनुसंधान क्षेत्र में तीन महत्त्वपूर्ण ग्रंथ दिये --'रंगमंच और नाटक की भूमिका', 'पारसी हिन्दी रंगमंच', 'हिन्दी रंगमंच और नाटक'।

१९७० में दिल्ली विश्वविद्यालय की नौकरी छोड़कर तथा कुछ दिनों पहले 'नेशनल बुक ट्रस्ट' में सम्पादक रहने के बाद अब गत कई वर्षों से लाल स्वतन्त्र लेखक हैं। नाटक के अलावा कथासाहित्य के क्षेत्र में भी आपने महत्त्वपूर्ण कृतियाँ दी हैं। अब तक आपकी लगभग ६०-७० कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनका अधिकांश 'सूने आँगन रस बरसै', 'नए स्वर नयी रेखायें', 'एक बूंद जल', 'एक और कहानी' तथा 'डाकू आये थे' नामक पाँच संग्रहों में आ गया है। आपकी औपन्यासिक कृतियों में 'मनवृन्दावन', 'प्रेम अपवित्र नदी', 'हरा समन्दर गोपी चन्दर', 'रूपाजीवा', 'गली अनारकली' प्रसिद्ध हैं।

□

प्राध्यापकों के लिए सुझाव

'कथा विसर्जन' नाटक पढ़ाते समय निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान आवश्यक है :

- सर्वप्रथम विद्यार्थियों को यह बताना चाहिए कि कविता, कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि साहित्य प्रकारों से नाटक विधा में क्या मूलभूत अन्तर है ? नाटक और रंगमंच का सम्बन्ध क्या है ?
- हिन्दी नाटक का विकास बताते हुए हिन्दी नाट्य की विशेषताओं और इसकी उपलब्धियों पर विधिवत् प्रकाश डालना आवश्यक है।
- नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल और उनकी नाट्यकृतियों का विकासक्रम से परिचय देना उपयोगी होगा। लाल का हिन्दी रंगमंच निर्माण में क्या योगदान रहा है, उनकी क्या विशेष उपलब्धियाँ रही हैं, यह भी विद्यार्थियों को जानना चाहिए।
- इतनी जानकारी और मानसिक तैयारी के बाद 'कथा विसर्जन' नाटक की कथा और विषय पर प्रकाश डालना है। फिर इसके पात्रों पर। इसके बाद इस नाटक के विशेष रंग-शिल्प और रंगशैली के बारे में विद्यार्थियों को ज्ञान देना अनिवार्य है।

- इस नाटक के शिल्प में अपनी परम्परा को कैसे जोड़ा गया है ? नट-नटी का क्या महत्त्व है ? नट-नटी प्रयोग से नाटक में क्या गुणात्मक महत्त्व पैदा हुआ है, इसे समझाकर बताना महत्त्वपूर्ण है।
- विभिन्न विद्यार्थियों द्वारा, विभिन्न पात्रों के संवाद पढ़े जाएँ और सबका आपस में सम्बन्ध स्थापित कर नाटक के कथ्य को समझाया जाए।
- नाटक की समस्या और मूल संवेदना पर विद्यार्थियों में परस्पर विचार-विनिमय कराया जाए।
- इस नाटक को पूरा या इसका एक अंक अथवा कोई एक दृश्य अध्यापक के निर्देशन में विद्यार्थियों द्वारा कालेज-यूनिवर्सिटी के मंच पर अभिनीत किया जाना परमावश्यक है।

□

कथा विसर्जन

पात्र

प्रकाशचन्द्र
नीलम
माँ
आशा
शोनू
सेठी साहब
गोपी
नाथू तथा
नट और नटी

प्रस्तावना

[मंच पर अंधेरा। मंच पर नट संगीत प्रस्तुत कर रहा है। पर आलाप से आगे कोई राग-बोल नहीं फूट पाता। नटी पुकारती हुई आती है। मंच पर प्रकाश। नट का आलाप। नटी का दर्शक समाज से कहना।]

नटी : महाशय ! आप सब जानते हैं, नट का काम मंच पर गाना नहीं है। और आज ? जब मंच पर नट की कोई जरूरत ही नहीं समझी जा रही है; श्रीमन् नटी अपने नट से अलग नहीं रह सकती। इसलिए अपने मंच पर इस तरह नट-नटी को देखकर कृपया नाक-भौं मत सिकोड़िये। नट के पाँव पड़ती हूँ, ये कोई कथा कहें, कोई नाटक दिखाएँ। ओ मेरे नट नागर ! मेरी ओर देखो। (नृत्य) कितने दिन हो गए कोई कथा नहीं कही। ऐसे सिर मत हिलाओ। हाँ, हाँ, आलाप लेते हो, ताकि कोई राग फूटे ! क्या कहा, राग कहाँ है ? कम से कम तुम ऐसे ना बोलो ! राग है। सबके हृदय में छिपा है। उसे छेड़ो तो भला !

नट : भक्त प्रह्लाद, भीष्म पितामह, दानवीर कर्ण, वीर अभिमन्यु, महाराजा विक्रमादित्य, महाराणा

प्रताप, संत तुकाराम, तुलसीदास···।

नटी : बस-बस-बस। दर्शक भड़क जाएँगे···रंगशाला छोड़ होटल-रेस्तरां चले जाएँगे।

नट : कथा तो महापुरुषों की होती है।

नटी : कथा किसी की भी हो सकती है। बात कहने और करने की है।

नट : कथा में उसी का वास है।

नटी : यही हमारा विश्वास है।

नट : विश्वास और यथार्थ में तो अन्तर होगा।

नटी : वही तो नाटक है।

नट : तो आरम्भ करूँ ?

[नट फिर आलाप लेने लगता है। नटी उसे रोकती है।]

नटी : ये क्या आ आ आ करते रहते हो ? लोग नाटक देखने आये हैं।

नट : नाटक देखने आये हैं ? किसका नाटक ?

नटी : इसका उत्तर हमें नाटक दिखाकर ही देना है।

नट : तो नाटक दिखाओ न ! मैं तो कथा कहता हूँ।

नटी : कथा ही तो नाटक है। तुम आज आँखोंदेखी कथा कहो। मैं प्रसन्न हो जाऊँगी।

नट : मैं आँखोंदेखी कथा कहूँ ? मुझे इतना अहंकारी मत बनाओ। मैं नट हूँ। मुझे नट ही रहने दो।

नटी : नहीं, तुम्हें आज वही कथा कहनी है, जो लखनऊ में देखकर आये हो।

नट : अरे, सुनो तो। मेरी बात तो सुनो।

नटी : अब सुनना-वुनना नहीं है, देखना है देखना।

नट : अरे, भगवान् की पूजा तो कर लो और दर्शकों से आशीर्वाद ले लो।

[संगीत उभरता है। नट-नटी मंच की पूजा करते हैं। दीपक जलता है।]

नट-नटी : दर्शन के प्यासे नयन, लगे तुम्हारी ओर।
कथा विसर्जन हो रहा, बाँध प्रेम की डोर॥

नट : लखनऊ शहर।
बड़े अफसर की एक माँजी थीं
कृष्ण की छोटी-सी मूर्ति
उनके पास थी
जिसे ठाकुरजी कहती थीं

नट-नटी : सारा जीवन माँ के लिए पूजा था।
सब उनका था कुछ भी नहीं दूजा था॥

[संगीत]

हो गई शाम नहीं आए री कन्हैया
हो गई शाम।
कौन दुहै मोरी गइया
हो गई शाम
नहीं आए रे कन्हैया···।

□

प्रथम अंक

पहला दृश्य

[मंच पर संध्या। अकेली माँ खड़ी हैं। पृष्ठभूमि का संगीत जैसे उनके हृदय से फूट रहा है। गोपी आती है। माँ को देखती रह जाती है।]

गोपी : माँजी, ऐसे काहे खड़ी हैं ? का देख रही हैं ?

माँ : अभी कोई नहीं आया रे। न बेटा, न बहू, न आशा, न शोनू। सुबह-सुबह सब चले जाते हैं घर छोड़कर। अब तक नहीं लौटते। देखो, सन्ध्या हो गई। पशु-पक्षी भी इस समय अपने घर लौट आते हैं। ये लोग हैं कि ।

[आहट होती है।]

गोपी : कोई आ रहा है। आशा बिटिया है।

[भारी-सा बस्ता पीठ पर लादे स्कूल के वस्त्रों में आशा।]

माँ : हे भगवान्, देखो तो सही, पढ़ाई के नाम पर कमर टेढ़ी किए दे रहे हैं। यह पढ़ाई का बस्ता है या कुली का बोझ ?

आशा : हैलो दादी !

माँ : हाय मेरी आशू !

[माँ आशा को अपने अंक में भर लेती हैं।]

आशा : दादीजी, मेरी टीचर ने एक दिन कहा कि प्रतिभा माने कल्पना। फिर कहा, प्रतिभा माने कल्पना नहीं, प्रतिभा माने चतुराई। फिर बताया, प्रतिभा माने हिम्मत। बताइये दादीजी, टीचर रोज अपनी बात बदल देती है। तो फिर हम क्या जानें किसी शब्द का सही अर्थ क्या है ?

माँ : पहले जाओ, कपड़े बदलो। हाथ-मुँह धोओ। फल खाकर दूध पिओ। फिर मैं तुमसे बात करूँगी।

[गोपी के साथ आशा अन्दर चली जाती है। माँ आशा का बस्ता खोलकर देखने लगती हैं।]

माँ : इतनी-इतनी किताबें, इतनी-इतनी कापियाँ, बाप रे बाप ! अरे ये क्या है ? फिल्मी पत्रिका ! (देखती हैं।) और ये क्या है ? ये लम्बा-सा तार कैसा है ?

[पुकारना]

माँ : नाथू !

[नाथू का आना।]

माँ : देखो बेटे, ये क्या चीज है ? जरा पकड़ो तो सही। जरा तानो तो !

नाथू : माँजी, यह म्यूजिक-तार है। वो जो पड़ोस में सेठी साहब हैं न, उनकी लड़की टेपरिकार्डर से इसे जोड़ देती है, गाना यहाँ पहुँच जाता है।

माँ : इस खाली घर में बाहर से पता नहीं क्या-क्या आ रहा है। यह तार टेलीफोन का। यह तार टेलीविजन का। यह तार संगीत बजाने का। यह तार, यह चीज, यह सामान, यह मैगजीन, अखबार, ये

कपड़े···। ठीक भी है। कोई जगह खाली नहीं रह सकती।

[स्कूल यूनिफार्म में बस्ता लिए हुए शोनू का आना। उसके एक हाथ में क्रिकेट खेलने का बैट है। प्रवेश करते ही वह अपना एक-एक सामान निकालकर नाथू की ओर फेंकने लगता है।]

शोनू : ये सब ले जाओ। मेरे कमरे में रखो। मेरे कपड़े तैयार करो। मुझे एक दोस्त के जन्म-दिन की पार्टी में जाना है।

[नाथू शोनू का सामान बटोरकर भीतर जाता है।]

माँ : शोनू बेटे, मैं भी यहाँ खड़ी हूँ। मुझको नहीं देखा?

शोनू : हैलो दादीजी!

[और एक गाना गुनगुनाता हुआ कराटे की मुद्राएँ दिखाने लगता है। कराटे का अभ्यास दादी पर करने की कोशिश करता है। दादी उसे डाँटती है। पर उसका उत्साह और भी बढ़ जाता है। सहमी हुई दादी को देखकर शोनू हँस पड़ता है और हवा में कराटे-नाच करने लगता है।]

माँ : ये क्या तमाशा है? तुम आदमी हो कि जानवर? यही तेरे स्कूल में पढ़ाया जाता है?

[नाथू का आना।]

नाथू : भैया, आपके कपड़े तैयार हैं।

माँ : अब कहीं नहीं जाना है। सारा दिन बाहर रहकर यही सब ऊटपटाँग सीखता है। तिस पर कहते हो, अमेरिका जाकर इंजीनियरिंग पढ़ूँगा।

शोनू : मैं नहीं कहता, ममी कहती है। और जहाँ तक बाहर रहने की बात है दादीजी, 'लाइफ' बाहर ही है।

माँ : बाहर कहाँ है बेटे? मुझे भी बताओ। मैं वहाँ जाकर देख आऊँ।

शोनू : घर में 'लाइफ' नहीं है, इतना तो पक्का है।

माँ : क्यों नहीं है?

शोनू : यह प्रश्न ममी-डैडी से पूछो।

[शोनू का अन्दर चला जाना।]

माँ : नाथूराम! सुबह धोबी के बच्चे आये थे न। यहाँ कैसे खेल रहे थे! सारा घर खुशी से भर गया था।

नाथू : सारा सामान इधर से उधर कर दिया था।

[नाथू कमरे के सामान को एक नजर देखकर चीजों को करीने से उनकी जगह रखता हुआ।]

नाथू : आते ही मेम साहब जरूर टोकेंगी कि यहाँ कौन आया था? उन्हें एक-एक चीज का पता रहता है। मजाल है कि कोई चीज अपनी जगह से जरा भी हिल जाये।

[भीतर से कपड़े बदलकर आशा का निकलना और दूसरी तरफ से शोनू का आना।]

शोनू : अच्छा, मैं जरा देर से आऊँगा। आज डिनर बाहर।

माँ : यह घर है या होटल?

शोनू : दादीजी, चलिए आपको भी घुमा लाऊँ।

माँ : अरे याद है, एक बार ले तो गया था घुमाने। यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ, इधर से उधर, उधर से इधर। बेमतलब जैसे पशु घूमते रहते हैं।

शोनू : बेमतलब! यही तो घूमना है। हमारी जिन्दगी भी तो बेमतलब है, डियर दादीजी।

माँ : ये बेसिर-पैर की ऊल-जलूल बातें तेरी खोपड़ी में

कहाँ से आती हैं ? क्यों रे, तेरी जिन्दगी का कोई मतलब नहीं है ? यह कहाँ सुना ? किसने कहा ?

शोनू : जहाँ सुनो, लोग यही कहते हैं।

माँ : और तुझे यही सुनाई पड़ता है। (रुककर) बाहर यही सुनाई पड़ेगा बेटे ! घर में रहा करो। कोई शौक पैदा कर अपने भीतर—जो तेरी हो।

शोनू : अच्छा, कल से करूँगा दादीजी !

माँ : आज क्या हो गया ?

शोनू : आज तो बीत गया।

माँ : तो कल आ गया न ! चल बैठ घर में। चल, ठाकुरजी की पूजा-आरती करते हैं।

शोनू : नहीं दादी, नहीं। यह लड़के-बच्चों का काम नहीं है। पूजा-पाठ बुड्ढों का काम है। तुम करो, तुम्हें मरना है दादी !

माँ : तू जीता रहे।

शोनू : दादी, मुझे देर हो रही है।

[यह कहकर शोनू बाहर भागना चाहता है।]

माँ : नहीं, तुम इस तरह नहीं भाग सकते बेटे ! आशू, तुम उधर से। जाने न पाये।

[दौड़ना-पकड़ना, चकमा देकर शोनू का बाहर निकल जाना।]

आशा : शोनू झूठ बोलता है। उसके किसी दोस्त का आज जन्म-दिन नहीं है। वह दोस्तों के साथ घूमने गया है।

माँ : बेटी, तुम्हारे बस्ते में यह फिल्मी पत्रिका कहाँ से आ गई ?

आशा : फिल्मी पत्रिका तो बहुत-से लोग पढ़ते हैं।

माँ : जो बहुत-से लोग करते हैं, क्या वही ठीक होता है ? सुनो, तुमने स्कूल से आते ही मुझसे अपनी टीचर की शिकायत की थी कि टीचर रोज अपनी बात बदल देती है तो हम क्या जानें किसी शब्द का सही अर्थ क्या है ? सच्चाई जानना चाहती हो ? तुम्हारी टीचर यही फिल्मी पत्रिका पढ़कर और फिल्म देखकर ऐसी टीचर बनी है, जिसे रोज अपनी बात बदलनी पड़ती है।

आशा : तो टेलीविजन में फिल्में क्यों दिखाई जाती हैं ?

माँ : इसीलिए कि सबको अपनी बात बदलने की आदत पड़ जाए।

[बाहर से ममी का आना।]

आशा : ममी !

नीलम : यहाँ खड़ी-खड़ी क्या कर रही हो ? जाकर पढ़ाई करो।

माँ : अभी तो स्कूल से आई है। जा, थोड़ा खेल-कूद ले। सहेलियों से मिल-जुल ले।

नीलम : कोई जरूरत नहीं। चलो, पहले स्कूल का काम करो।

माँ : स्कूल का काम यह है बहू—फिल्मी पत्रिका।

[नीलम का पत्रिका ले लेना। उसे देखने लगना।]

आशा : ममी को बहुत पसन्द है।

माँ : हाँ भाई, हाँ।

[दोनों का अन्दर जाना।]

नीलम : (कमरे की चीजों को देखकर) यह सब किसने उलट-पुलट किया है ? (पुकारना) नाथू ! गोपी !

[दोनों का दौड़े आना।]

नीलम : यह क्या है ? बुद्धा की मूर्ति टेढ़ी क्यों हो गई शिव, पार्वती, गणेश की मूर्तियाँ···यह घोड़ा···य कुत्ता, ये अपनी जगह से क्यों हटे ?

नाथू : मेम साहब···वो···वो धोबी के बच्चे आए थे।

नीलम : धोबी के बच्चे ! माँजी ने कहा होगा—आवो आवो ! बैठो···बैठो···सोफे पर बैठो। खेलो··· खेलो। गोपी ! इन्हें कुछ खिलाओ।

माँ : (खड़ी थीं। हँस पड़ना) बहू ! तुम कितना अच्छ अभिनय करती हो ! मैंने बिल्कुल ऐसे ही कहा था तुम अभिनय क्यों नहीं करतीं ? तुम कितना अच्छ गाती थीं। संगीत विशारद··· नृत्य प्रभाकर। तुम कितने भजन याद थे। सुनो बहूरानी ! हम लोग ए संगीत-कला मण्डल बनाएँ। सब मिलकर गाएँ बजाएँ। व्रत-त्यौहारों पर नाटक करें। देखो न अफसर कालोनी की सारी स्त्रियाँ दिन-भर घर बाहर रहती हैं। और जब घर रहती हैं दिन में, त भीतर से कमरा बन्द कर सोती हैं।

[दोनों नौकरों का जाना।]

नीलम : माँजी, यह गाँव नहीं शहर है।

माँ : अच्छा जी !

नीलम : शहर में यह सिविल लाइन है। सिविल लाइन यह आफीसर कालोनी है। यहाँ कुछ करने से पह बहुत सोचना पड़ता है।

माँ : नहीं, बहू, नहीं। यहाँ तो कोई सोचता ही नहीं स्त्री दिखाती है। नकल करती है। पुरुष अप कुर्सी और फाइल से बाहर ही नहीं निकलता। यह सोचने-विचारने से क्या मतलब ?

नीलम : धोबी के बच्चों को यहाँ मत बैठाइए। सारा गन्दा कर दिया। सब चीजें उनके लिए तो खेलने की हैं।

माँ : बहूरानी, बुरा नहीं मानना। ड्राइंगरूम की ये मूर्तियाँ, ये चित्र, ये चीजें किसलिए हैं ?

नीलम : सजावट के लिए। जो यहाँ आए उस पर प्रभाव पड़ सके।

[अन्दर जाना।]

माँ : ओह ! तो महात्मा बुद्ध, शिव, दुर्गा, गणेश सजावट के लिए हैं ? इन देवी-देवताओं के साथ कुत्ते, घोड़े···।

[माँ खड़ी रह जाती हैं। माँ के पीछे नट-नटी का गायन]

कुंदन बन क्यों छोड़ा रे माधव
कुंदन बन।
कुंदन बन क्यों छोड़ा रे माधव
कुंदन बन।
कुंदन बन॥
कुंदन बन क्यों छोड़ा ?
कुंदन बन।
माधव क्यों छोड़ा ?

[बाहर कार आकर रुकने का स्वर। माँ का भीतर जाना। भीतर से नीलम का आना।]

नीलम : नाथू, दौड़ो ! साहब आ गए।

[प्रकाशचन्द्र का प्रवेश। पीछे-पीछे नाथू का ब्रीफकेस, फाइल का गट्ठर लिए आना। बेतरह थके प्रकाशचन्द्र का बैठ जाना।]

नीलम : देखो नाथू ! साहब का बाथरूम ठीक करो। 'गीजर'

चला दो। धुले कपड़े रख दो। नया साबुन-तौलिया फिर नाश्ता लगाओ। (रुककर) अब नाश्ता क्या करेंगे! एक कप ठण्डा दूध।

प्रकाश : नहीं, गर्म कॉफी।

नीलम : पी० सी० डार्लिंग! गर्म कॉफी तुम्हें नुकसान करेगी। 'चीज' पकौड़े ले आई हूँ तुम्हारे लिए। हजरतगंज में तुम्हारे 'बॉस' मिल गए, सेठी साहब। वह मेरी इस साड़ी की तारीफ करने लगे। मैंने कहा—चलिए, 'शीराज़' में कॉफी पीते हैं। सेठी साहब को 'चीज' पकौड़े बहुत पसन्द हैं।

प्रकाश : सेठी साहब ने मुझे नहीं बताया।

नीलम : कल चार बजे मैंने चाय पर बुला लिया है।

प्रकाश : कल मुझे दफ्तर जाना है।

नीलम : कल छुट्टी है।

प्रकाश : सेठी साहब का ही काम है।

नीलम : डियर, तीन बजे तक काम पूरा कर डालना।

[**प्रकाश का अन्दर जाना**]

नीलम : नाथू! नाथू!!

[**नाथू का आना**]

नीलम : शोनू कहाँ है?

नाथू : भइया दोस्त पारटी में गए हैं।

नीलम : किससे पूछकर?

नाथू : माँजी ने मना किया, माने नहीं।

[**उसी समय माँजी आशा के साथ ठाकुरजी की पूजा-आरती करती दिखती हैं।**]

मों सम दीन न दीन हित, तुम्ह समान रघुवीर।
अस बिचारि रघुवंश मनि, हरहु बिषम भवभीर॥

बार-बार बर माँगऊँ, हरषि देहु श्री रंग।
पद सरोज अनपायनी, भगति सदा सत्संग॥
आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम्।
पूजां चैव न जानामि त्वं गतिः परमेश्वरम्॥

[**नाथू, गोपी, माँजी और आशा सबका ईश प्रणाम करते दिखना। नीलम का सबको देखती रह जाना।**]

□

दूसरा दृश्य

[प्रातःकाल का वही मंच। मंच के बीचोबीच माँ भगवान् की पूजा के लिए फूलमाला गूँथ रही हैं। एक ओर से शोनू और दूसरी ओर से आशा और तीसरी ओर से नाथू; सब माँजी को पुकारते आते हैं।]

शोनू : दादीजी !

आशा : दादी !

नाथू : माँजी !

शोनू : इस घर के केन्द्र में दादी, तुम्हीं हो।

माँ : नहीं बेटे, सबके केन्द्र में ईश्वर है। केन्द्र में, परिधि में चारों ओर वही ईश्वर।

नाथू : कमिश्नर साहब के घर से पुछवाया है माँजी, आज अपनी कौन तिथि है ?

माँ : विक्रम भाद्रपद शुक्लपक्ष अष्टमी।

शोनू : अरे दादी, सीधे क्यों नहीं कह देतीं, शनिवार, इक्कीस सितम्बर।

माँ : उन्होंने अपनी तिथि पुछवाई है।

आशा : सितम्बर अंग्रेजी महीना है। यह हमारा नहीं है। हमारा है विक्रम भाद्रपद शुक्लपक्ष अष्टमी।

[नाथू का तिथि याद करते हुए जाना।]

शोनू : जो हमारा नहीं है, वह हमारा कैसे हो गया ?

हमारा कहाँ गया ?

माँ : यही तो जानने की बात है बेटे, वह हमारा कहाँ गया ? तुम उसे जान न सको, इसीलिए तो तुमको फँसा दिया गया है—पॉप म्युजिक, मारकाट की फिल्में, अंग्रेजी भाषा, जूडो-कराटे, खो खो खोला, पो पो पोला।

[सबका हँस पड़ना। भीतर से गोपी को संग लिए हुए नीलम का आना। नीलम उसे कुछ समझा रही है।]

शोनू : हमें पढ़ाया जाता है, इस ब्रह्मांड के केन्द्र में शून्य है।

माँ : इसीलिए पढ़ाया जाता है, तुम भी शून्य हो जाओ। शून्य का न विश्वास होता है न श्रद्धा।

नीलम : यह क्या ? बच्चों का दिमाग चौपट कर रही हैं। चलो तुम लोग यहाँ से।

शोनू : कहाँ जायें ? बाहर जायें तो कहती हो घूमता है। घर में रहें तो क्या मुँह सिल लें सुई-धागे से ?

नीलम : शोनू !

शोनू : ममी, तुम्हारे पास वक्त नहीं कि तुमसे बात कर सकें। पापा को अपने दफ्तर से कभी फुर्सत नहीं। तो क्या हम दादी से बात न करें ? तुम दादी से इतना घबड़ाती क्यों हो ?

नीलम : जाओ, अपना काम करो।

शोनू : बताइये न, क्या है मेरा काम ?

नीलम : तुम्हें इंजीनियर बनना है। 'न्यूक्लियर फिजिक्स' पढ़ने अमेरिका जाना है।

शोनू : क्यों ?

नीलम : शोनू !

शोनू : शोनू क्या है ? मैं कौन हूँ ?

नीलम : माँजी, यह क्या किया आपने ? बच्चे बर्बाद हो जाएँगे। हम कहीं के न रह पाएँगे। हमारी सारी योजना मिट्टी में मिल जाएगी। चल यहाँ से··· चलता है कि नहीं ?

[शोनू को खींचकर ले जाने का प्रयत्न। माँ का सामने खड़ा हो जाना।]

माँ : छोड़ो बहू ! क्या करती हो ? बच्चा नहीं है, सोलह साल का है। बोलो न, मैंने क्या किया ?

नीलम : 'मैं कौन हूँ' यह खतरनाक प्रश्न इसे कहाँ ले जाएगा ?

माँ : यह प्रश्न तुमसे किया है, अपनी माँ से। तुम्हें उत्तर देना चाहिए।

नीलम : यह प्रश्न इसे मिला कहाँ से ?

माँ : बाहर से न जाने कितनी चीज़ें इस घर में आती हैं। कौन-सी चीज़ कैसी है, माता-पिता को चिन्ता होनी चाहिए। तुम्हें कोई चिन्ता है ? न अपनी न अपने बच्चों की, न पति की। चिन्ता है तो केवल भविष्य की। आज की नहीं, कल की। बेटा प्रश्न करता है, यह तो बड़े सौभाग्य की बात है।

नीलम : शोनू, ये ले सौ रुपये। जा, बाहर घूम आ। जा (शोनू का जाना) आशू, तू यहाँ क्या कर रही है ? जा, टी० वी० देख। मैगजीन पढ़। जा।

[आशा का जाना]

नीलम : देखिए माँजी, आपने अपनी तरह से पी० सी० को पाला।

माँ : पी० सी० नहीं, श्री प्रकाशचन्द्र कहो। नाम ही

लेना है तो मेरे बेटे का पूरा नाम लो। नौकरी में आकर श्री प्रकाशचन्द्र पी० सी० हो गया, तो अपने घर में भी पी० सी० हो गया ?

नीलम : खैर, अपने बेटे को अपनी तरह से पाला। मुझे अपने बच्चों को अपनी तरह पालने दीजिए।

माँ : बहूरानी ! क्या है तुम्हारा अपनापन ? क्या है तुम्हारा अपना ? बताओ न, मैं धन्य हो जाऊँगी जानकर।

नीलम : मेरा अपना कुछ नहीं है ?

माँ : क्या है अपना ? देखो न ! यह बंगला सरकार का है। तुम्हारे पति की नौकरी सरकार की कृपा पर है। ये फर्नीचर, ये सामान, ये चीज़ें दूसरों को दिखाने और प्रभावित करने के लिए हैं। तुम्हारे बच्चे···? एक अमेरिका का है···एक इंग्लैण्ड की···एक इंजीनियर···एक लेडी डाक्टर। दूसरों की नकल में सब कुछ नकली।

नीलम : नहीं, मैं आपसे बात नहीं करना चाहती। मैं आपकी बात सुनना नहीं चाहती।

माँ : तो क्या मैं चुप हो जाऊँगी ? नहीं, मैं टोकती रहूँगी। जो गलत है, उसे गलत कहती रहूँगी। मैं 'मॉडर्न' नहीं हूँ, मनुष्य हूँ। जो मैं हूँ, अपनी हूँ। तुम सब मेरे हो। मैं तुम सबकी हूँ।

नीलम : सुनो ! सुनते हो, श्री प्रकाशचन्द्र !

माँ : पति का नाम लेकर नहीं पुकारते।

नीलम : कहाँ लिखा है ?

माँ : जब से लिखा हुआ सच मान लिया गया, तभी से बहूरानी, मनुष्य का अपना कुछ नहीं रहा। सब

दूसरों का।

[दफ्तर जाने के लिए तैयार प्रकाशचन्द्र का आना।]

प्रकाश : क्या है ?

नीलम : अपनी माँ से पूछो।

प्रकाश : माँ से क्या पूछूं ?

माँ : हाँ, इसे तो सब पता है। अब क्या पूछना ?

प्रकाश : जितना जान गए हैं माँ, वही जरूरत से ज्यादा है।

माँ : दिन-रात दफ्तर-दफ्तर। फाइल-फाइल। कभी बहू के साथ भी रहता है ?

प्रकाश : बहू को पता है मैं इनका आदमी नहीं, सरकार का आदमी हूँ।

माँ : बड़ा मजाक करने आया ! हँसी तो कभी चेहरे पर देखी नहीं। छुट्टी के दिन भी दफ्तर। बहू, तू भी इसके साथ-साथ जा।

प्रकाश : माँ, तुम कहीं घूमघाम क्यों नहीं आतीं ?

माँ : जैसे कहाँ ?

प्रकाश : जैसे गोमती में स्नान। गोमती के उस पार भैरोजी का मन्दिर है। चौक में प्रसिद्ध दुर्गाजी का मन्दिर और लछिमन टीला के उस पार बड़ा भारी नया सत्संग भवन बना है।

माँ : चाहता है, मैं भी बाहर ही बाहर घूमूं ? मेरा स्नान मेरी वाणी है। मेरा मन्दिर मेरा आचरण है। मेरी दुर्गा मेरा चरित्र है। मेरा सत्संग मेरा घर-परिवार, आस-पड़ोस है।

प्रकाश : अच्छा माँ, चलूँगा।

[माँ के चरण-स्पर्श करके जाना।]

नीलम : ठीक तीन बजे तक आ जाइयेगा।

माँ : बहू, तुम क्यों नहीं पति के चरण छूतीं ?

नीलम : ये बड़ी दकियानूसी बातें हैं माँजी ! पति-पत्नी का दर्जा समानता का है।

माँ : वाह रे तेरी समानता !

[फूलमाला समेटकर माँ की अन्दर जाने की तैयारी।]

नीलम : माँजी ! आज चार बजे इनके बॉस सेठी साहब हमारे यहाँ चाय पर आ रहे हैं।

माँ : अरे, सेठी साहब को तो मैं खूब जानती हूँ। वह चाय के बहाने मुझसे बात करने आ रहे होंगे।

नीलम : लेकिन इस बहाने हमें उनसे एक जरूरी बात करनी है। ऐसा है माँजी, इनकी तरक्की और ट्रांसफर दोनों होने को हैं। एक बहुत अच्छी नौकरी दिल्ली में है और वह सेठी साहब के ही हाथ में है। दिल्ली में वह जगह देने वाले सेठी साहब के सगे बड़े भाई हैं।

माँ : तो मैं क्या करूँ ?

नीलम : (दिखाती हुई) यहाँ सेठी साहब बैठेंगे। यहाँ आप बैठेंगी। यहाँ मैं। यहाँ वो।

माँ : मैं क्या करूँगी यहाँ बैठकर ? नहीं बाबा, नहीं। जिसका जो काम है वही करे।

नीलम : आपसे ही बात करने के बहाने सेठी साहब को यहाँ···। ऐसा है, आप उनसे बात कीजिएगा। उन्हें धर्म-अध्यात्म में बड़ी जिज्ञासा है।

माँ : देखो बहू, उन्हें कोई जिज्ञासा नहीं है। उन्हें तो घमंड है अपनी पढ़ाई का, ताकत का···कुर्सी का।···बेकार···।

नीलम : उसी का इस्तेमाल हमें करना है। आप उनसे बात

कीजिएगा। जैसे ही चाय खत्म हो जाएगी, आप धीरे से उठकर चली जाइएगा। बस, आगे हम अपना काम कर लेंगे। (रुककर) माँजी, हम लखनऊ से दिल्ली पहुँच जाएँगे तो हमारे सारे सपने पूरे हो जाएँगे। दिल्ली से ही सब कुछ होता है। दिल्ली में दोनों बच्चों के 'एडमिशन' के लिए कार्रवाई कर दी है। नई कार की बुकिंग करा दी है। डी० डी० ए० से एक जमीन के लिए कोशिश कर रही हूँ। इसीलिए तो मुझे हर महीने दिल्ली जाना पड़ता है।

[नीलम का जाना। पुष्पहार लिए माँ का मौन खड़ी रह जाना। नट-नटी गायन।]

हे मन धीरे चलो मैं हारी।
हाथ गठरिया सिर पै गगरिया
पैरों में पायल भारी—हे मन।
उज्ज्वल रूप दिया बगुले को
कोयल कर दी कारी,
नार चतुर तो बाँझ कर डारी
राजा हो गए भिखारी—हे मन।

द्वितीय अंक

पहला दृश्य

[चाय की दावत की पूरी तैयारी। नाथू बेयरा के वस्त्रों में। सब सजा-बजा है। हल्का-हल्का संगीत बज रहा है।]

नीलम : आशा बेटी, तुम यहाँ नहीं आवोगी। इधर-उधर नहीं घूमोगी। वहाँ भीतर खड़ी रहोगी। अगर सेठी साहब ने बच्चों के बारे में पूछा तो झट दौड़ी हुई आवोगी। अगर उन्होंने कुछ सुनाने को कहा तो वही अंग्रेजी गाना सुनाओगी। वह कहें तब भी रामायण भजन नहीं गाओगी।

प्रकाश : क्यों, इसमें क्या बुराई है ?

नीलम : डियर, तुम समझते नहीं। रामायण भजन, ये सब पिछड़ापन है।

प्रकाश : सेठी साहब को तो धर्म और अध्यात्म में बड़ी गहरी रुचि है। बड़े-बड़े महात्माओं के प्रवचन सुनने जाते हैं।

नीलम : जी हाँ, सिर्फ अंग्रेजो में प्रवचन देने वाले महात्मा।

नाथू : मेम साहब, सब तैयार है।

प्रकाश : शाबाश भाई नाथूराम !

नीलम : देखो डियर, सेठी साहब के सामने नाथू को भा
नाथूराम मत कहना। नाथू हमारा नौकर है। ना
यानी नाथू !

प्रकाश : नाथू नाथूराम क्यों नहीं ?

नीलम : देखो, तुम्हारा 'बैक ग्राउन्ड' ग्रामीण है—गाँव का
गाँव यानी देहातीपन, अवैज्ञानिक, अंधविश्वासी।

प्रकाश : तुममें कितना अंधविश्वास है, कभी देखा है ?

नीलम : ओ, चार बज गए। सेठी साहब पहुँच रहे होंगे
प्रकाश ! बाहर जाओ। 'रिसीव' करो बाहर। ह
उन्हें भीतर 'रिसीव' करेंगे।

[**प्रकाश का बाहर खड़ा होना। नीलम का माँ**
पुकारना।]

नीलम : माँजी ! अब आ जाइए।··· नाथू ! तुम झुककर
सलाम करोगे। (**माँ का आना**) माँजी, आपने साड़ी
नहीं बदली ?

माँ : मेरे लिए यही ठीक है।

नीलम : यह खद्दर की मामूली साड़ी ! मैंने आपको खादी
सिल्क की साड़ी दी थी। अब इसे जाकर बदल
लीजिए।

माँ : बहूरानी, मैं इसी तरह ठीक हूँ।

नीलम : माँजी, हाथ जोड़ती हूँ।

माँ : क्यों हाथ जोड़ती हो ? क्यों इस तरह घबड़ाई, डरी
हुई हो ? आखिर वह भी तो आदमी है। उसे चाय
पर बुलाया है कि ··· ? (**सहसा देखना**) अरे ! मेरे
भगवान् की मूर्ति यहाँ कौन ले आया ?

नीलम : भगवान् तो सर्वत्र है माँजी ! देखिए, यहाँ कितना
अच्छा लगता है।

माँ : मेरे भगवान् सजावट की चीज नहीं हैं। सावधान
बहू ! अगर ऐसी गलती फिर हुई तो मैं अपने
प्रभु के लिए प्राण दे दूंगी।

[**मन्त्रपाठ करती हुई मूर्ति को लेकर भीतर जाना।**]

आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम्।
पूजा चैव न जानामि, त्वंगतिः परमेश्वरम्॥

[**बाहर से प्रकाश के साथ सेठी साहब का आना। भीतर से माँजी का आना। सेठी साहब का माँजी को नमस्कार करना।**]

माँ : सुख पाओ।

सेठी : माँजी, आप क्या आशीर्वाद देती हैं—सुख पाओ।
अरे, आशीर्वाद दीजिए, सुखी रहो।

माँ : सुख कहीं है नहीं, सुख तो पाना होता है।

सेठी : कैसे ?

नीलम : आइए, बैठिए। यहाँ बैठकर आराम से बातें
कीजिए।

सेठी : धन्यवाद। माँजी से इसी तरह। हाँ तो माँजी, सुख
कहाँ है ?

माँ : वह आपको ही अपने भीतर ढूंढ़ना होगा।

सेठी : ढूंढ़ना तो बाहर होता है।

माँ : बाहर केवल चीजें···सामान···पदार्थ हैं···। बाहर
कोई सुख नहीं है। सुख का स्रोत अगर बाहर है—
दूसरों का दिया हुआ – बताया हुआ—वह सुख हो
ही नहीं सकता। सुख तो अपना ही है। अपना
कमाया हुआ। अपने से आप पाया हुआ—अपने से,
अपने घर-परिवार से, अपनी जड़ से—अपने स्रोत
से।

सेठी : ये तो साधना की बातें हैं।

माँ : दुःखी रहना स्वाभाविक है। सुखी होना प्रयत्न है।

सेठी : प्रयत्न करने से सुख मिल सकता है?

माँ : हाँ, बिल्कुल।

सेठी : प्रयत्न माने?

माँ : किसी का हो जाना। कोई तुम्हारा हो जाय··· तुम किसी के हो जाओ।

सेठी : माँजी तो कविता करने लगीं।

[हँस पड़ना। नाथू का ट्रे में सेठी को देना।]

सेठी : (प्लेट में लेकर) जो भी हो, माँजी हैं बड़ी दिलचस्प।

प्रकाश : सर, आइए। तशरीफ रखिए।

सेठी : माँजी, आपके भगवान् ठाकुरजी के क्या हाल हैं?

माँ : जो है उसका हालचाल नहीं होता। वह तो है ही। अच्छा चलूँगी, नमस्कार।

सेठी : अरे, आप बैठिए न। आपसे ही बात करने आया था।

नीलम : माँजी के दवा लेने का समय हो गया।

[माँ का जाना]

सेठी : सच, सुख अपने में है। देखिए न, यहाँ अपना क्या है? न अपना घर है, न अपनी नौकरी है, न अपनी परम्पराएँ हैं, न अपना रहन-सहन है।

प्रकाश : न अपनी शिक्षा है, न अपनी भाषा।

सेठी : तो सुख कहाँ से प्राप्त हो?

नीलम : ये लीजिए 'चीज पकौड़े'।

[सेठी का उठकर घूमने लगना।]

प्रकाश : चाय लेंगे सर?

सेठी : प्रकाश! तुम्हारी माँ का तुम पर कितना असर है? मैं तो पाता हूँ···तुम पर कोई प्रभाव नहीं है। श्रीमती नीलम का ही प्रभाव है।

नीलम : थैंक्यू सर!

सेठी : अरे आप हैं ही ऐसी!

[पति-पत्नी की चापलूसी हँसी]

प्रकाश : सर, मिसेज सेठी की तबियत अब कैसी है?

सेठी : वैसी ही है —लाइलाज —हाई ब्लडप्रेशर, मोटापा, चक्कर आना। पूछो नहीं, पड़ी रहती हैं। गुस्से और शक की आग में जलती रहती हैं। मेरा भी ख्याल है, भगवान् में विश्वास जरूरी है। मेडिकल साइंस बताती है—इसके बड़े फायदे हैं।

नीलम : इनके लिए सारे व्रत रखती हूँ। आपकी कृपा से दिल्ली की नौकरी मिलते ही हम वैष्णोदेवी के दर्शन करने जाएँगे। नाथू! जाओ यहाँ से।

[नाथू का जाना।]

सेठी : आपकी फाइल ऊपर भेज दी है।

[तीनों में गुप्त वार्ता। तीनों के सिर जुड़ गए हैं। उसी समय पीछे माँ दिखती हैं। फूलों के हार से ठाकुरजी की मूर्ति सजा रही हैं। आशा, गोपी और नाथू प्रणत हैं।]

सेठी : (सहसा) क्या है? कौन हैं वो?

□

दूसरा दृश्य

[संध्या। शोनू और आशा]

शोनू : चलो खेलते हैं—
डैडी बाहर दौड़े पर।

आशा : ममी बाहर घोड़े पर।

शोनू : घर के अन्दर केवल दादी।

आशा : दादी पहने शुद्ध खादी।

शोनू : हम भी चलें घूमने बाहर।

आशा : ना ना ना दादी का डर।

शोनू : यह तुकबन्दी गलत। बाहर···और डर—दोनों में कोई तुक नहीं।

आशा : है है है। बाहर है, तभी डर है।

शोनू : ममी-डैडी अक्सर घर से बाहर रहते हैं—क्या उन्हें डर है?

आशा : दादी से पूछूं?

शोनू : मुझे पता है। उन्हें डर है। तभी बाहर रहते हैं।

[दोनों झगड़ पड़ते हैं। दादी का आना।]

शोनू : दादीजी, हम घर से बाहर जाना चाहते हैं।

आशा : और आपको भी अपने साथ ले जाना चाहते हैं।

माँ : अरे! यह भी तुक मिल गया।

[तीनों की हँसी]

माँ : चलो हम एक गाना गाते हैं। पहले छिप जायें।

[तीनों का तीन स्थानों से गाते हुए निकलना]

माँ : ये जो घर से बाहर घूमने का चक्कर है।

शोनू : इसमें माल बेचने वालों का घी-शक्कर है।

आशा : जभी तो भीतर-बाहर का यह टक्कर है।

तीनों : चक्कर है भाई चक्कर है।
शक्कर है भाई शक्कर है।
टक्कर है भाई टक्कर है।
चक्कर शक्कर टक्कर।

[उसी समय मार्केटिंग कर बाहर से नीलम का आना।]

माँ : आओ! हमारे साथ खेलो।

नीलम : स्कूल का काम कर लिया?

आशा : जी हाँ। हम बाहर घूमने जा रहे थे। दादी माँ हमारे साथ खेलने लगीं।

शोनू : दादीजी कहती हैं—बाहर वही घूमता है, जो घर से उखड़ा है। घर से वही उखड़ा है, जो अपने-आप से उखड़ा है।

आशा : क्यों ममी, यह ठीक बात है?

नीलम : माँजी, आप क्यों बच्चों का दिमाग खराब कर रही हैं? ये क्या ऊल-जलूल बातें हैं?

शोनू : दादीजी बिल्कुल सही कहती हैं—हम कहीं 'बिलांग' नहीं करते, तभी हमें किसी से प्रेम नहीं है।

नीलम : जो पत्थर की पूजा करता है, उसे बड़ा प्रेम है?

शोनू : हाँ, दादीजी का सबसे प्रेम है।

आशा : दादी न होतीं तो हम किसके पास रहते?

माँ : चुप क्यों हो गईं बहू? बातें करो। तुम भी तो

बच्ची हो। तुम्हारी बातें मुझे बुरी नहीं लगतीं।

नीलम : मैं बच्ची हूँ आपकी नजरों में ?

माँ : देखो न, पत्थर के खिलौने सजा रखे हैं बैठक में। जो जीवन जी नहीं पाए, ये वही तुम्हारे भीतर के पत्थर हैं। एक ओर महात्मा बुद्ध, दूसरी ओर कुत्ते की मूर्ति। कहीं कोई तुक है बहू ?

नीलम : मेरे पास इतनी फुर्सत नहीं है।

[जाने लगना। माँ का सामने आना।]

माँ : बाबा बम भोले, मुरगा साई, भैंसा मजार पर जा-जाकर माथा रगड़ने, मन्नत मानने की फुर्सत है ? पाप को पूजा से जोड़ दिया···।

[नट-नटी गायन]

पाप को पूजा से जोड़ दिया।
बाहर के लोभ में घर को छोड़ दिया।
ऐसे चले, ऐसे चले
अपने से ही नाता तोड़ दिया।
पाप को पूजा से जोड़ दिया।
कमल को जड़ से ही तोड़ दिया।
पाप को पूजा से जोड़ दिया।

□

तीसरा दृश्य

[दोपहर का मंच। बाहर से नाथू का पुकारते हुए आना।]

नाथू : गोपी ! ओ गोपी !

गोपी : (आती) अरे चुप ! मेम साहब को तेज सिरदर्द हो रहा है। माँजी सिर दबा रही हैं।

नाथू : माँजी में बड़ा प्रेम है। सब्जी वाली आई है, जाकर सब्जी ले ले।

गोपी : मेम साहब के साथ मोटरगाड़ी से कैसरबाग गई थी सब्जी खरीदने। वहीं तो सिरदर्द शुरू हुआ मेम साहब का। धूप लग गई होगी।

नाथू : किसी पर गुस्सा आ गया होगा। बाजार में कैसे गुस्सा उतारतीं। गुस्सा सिरदर्द हो गया।

गोपी : तुझे कैसे मालूम ?

नाथू : देखो, मुझे-तुझे-बुझे मती कहा करो, हाँ नहीं तो।

गोपी : तुझे-बुझे ! (हँसना) तुझे-बुझे !

नाथू : चुप ! कोई आया है। दौड़े से साहब आ गए।

[जाना। साहब का सामान लेकर प्रकाशचन्द्र के पीछे-पीछे आना। अन्दर चले जाना।]

गोपी : अब मजा आएगा। साहब दफ्तर जाना चाहेंगे, माँजी आज उन्हें जाने न देंगी।

[नाथू का आना।]

नाथू : जा, लंच तैयार कर। साहब दफ्तर जायेंगे। माँजी ने ऐसा सिर दबाया कि मेम साहब सो गईं।

[प्रकाश के साथ माँ का आना। नाथू-गोपी का जाना।]

माँ : पूरे नौ दिन के बाद देहरादून से आए हो। आते ही दफ्तर भागने की तैयारी। पत्नी की तबीयत खराब है। जाकर उसके पास बैठो। तुम्हारे लिए इतनी चिन्ता करती है, तुम्हें भी नीलम का कोई ध्यान है ?

प्रकाश : कुछ चक्कर ही ऐसा था। सेठी साहब की सम्पत्ति का मामला था।

माँ : अपनी भी सम्पत्ति की कोई चिन्ता है ? जन्मभूमि गाँव के तीन बीघे खेत झंझट में हैं।

प्रकाश : नाथू ! गाड़ी ठीक करो, दफ्तर जाना है।

माँ : बीमार बहू को छोड़कर दफ्तर जाओगे ?

प्रकाश : जल्दी आ जाऊँगा। तुम तो हो माँ !

माँ : मेरे भरोसे पत्नी को छोड़ना···नौकरों के भरोसे माँ को छोड़ना···यह कौन-सा जीवन है ?

प्रकाश : माँ, तुम्हें कोई तकलीफ है ?

माँ : यह मेरा घर है। मेरा बेटा है, बहू है, पोता-पोती है···और सबके आधार मेरे ठाकुरजी हैं। मुझे कैसी तकलीफ ? तकलीफ तुम्हें है, बहू और बच्चों को है।

प्रकाश : क्या ?

माँ : तुम सबमें कोई भीतरी लगाव नहीं है। सब बाहर-बाहर···हरदम बाहर···किसी को चाय, लंच, डिनर पर बुलाते हो तो उसका आनन्द लो। हर काम का आनन्द लेना, यही भगवान् है। (रुककर)

फैजाबाद, फिर इलाहाबाद, फिर लखनऊ और अब दिल्ली। यह कैसी यात्रा है ? कभी रुककर देखा ?

प्रकाश : माँ, तुम्हारी सोच बिल्कुल सही है। पर सबकी जिन्दगी अलग-अलग है।

माँ : किसने किया अलग-अलग ?

प्रकाश : इसका जवाब सरकारी अफसर नहीं दे सकता। जिन्हें जवाब देना चाहिए वे सब चुप हैं। नाथू ! सामान रखो।

नाथू : रख दिया हुजूर !

प्रकाश : माँ, क्षमा करना।

[माँ के चरण-स्पर्श कर चले जाना। माँ का चुप खड़ी रह जाना। बाहर से शोनू और आशा का आना।]

शोनू : हलो माई डियर दादी !

माँ : हलो मेरे प्यारे···प्राण दुलारे।···ममी की तबीयत खराब है। सो रही है। (धीरे गाते हुए)
चलो कपड़े बदलो।
हाथ-मुँह धोवो।
फिर खाना खाओ।

शोनू : घूमने जाओ।
ममी की सेवा करो।
होमवर्क पूरा करो।

माँ : नहीं-नहीं-नहीं।

[प्रसन्न दृश्य]

शोनू : (सहसा) दादीजी, संवाद माने ?

माँ : सम घन वाद—सम्वाद। सम माने समान। वाद माने बात।

शोनू : संवाद माने 'डायलाग'।

माँ : देखो, हिन्दी अलग भाषा है। अंग्रेजी अलग। संवाद और 'डायलाग' में जमीन-आसमान का अन्तर है।

आशा : हमारे टीचर ने बताया, दोनों का मतलब एक है।

शोनू : 'डायलाग' माने संवाद दादी माँ ! जैसे रामचरित-मानस में संवाद है।

दादी : चलो शुक्र है, तुम्हें रामायण का पूरा नाम तो मालूम है।

शोनू : अरे आशा ! आशा !

आशा : क्या है ?

शोनू : दादीजी मुझे इनाम दे रही हैं। मुझे रामायण का पूरा नाम मालूम है।

नीलम : देखिए, यह कितना चंट होता जा रहा है।

शोनू : दादी ! हमारा आपस में संवाद क्यों नहीं हो पाता ? देखो, मैं शुद्ध हिन्दी बोल रहा हूँ।

दादी : परस्पर संवाद बड़ा कठिन है रे। संवाद वहाँ नहीं हो सकता जहाँ घमंड है। संवाद के लिए चाहिए दो जन। हाँ, एक नहीं दो। दोनों में समानता हो। मालिक और नौकर में संवाद नहीं हो सकता। छोटे-बड़े में संवाद नहीं हो सकता।

शोनू : ओ ! ममी-डैडी में 'डायलाग' नहीं हो सकता ?

माँ : अपनी चिन्ता कर। जा, कपड़े बदल। हाथ-मुँह धो।

[दादी का शोनू को दौड़ाना।]

शोनू : (दौड़ते बचते हुए) देखिए, देख लीजिए, छोटे और बड़े के बीच संवाद नहीं हो सकता।

[ममी का आना]

नीलम : ये क्या ऊधम मचा रखा है ?

[सब चुप।]

माँ : अब कैसी तबीयत है बहू ?

[दोनों बच्चों का भीतर जाना।]

नीलम : ठाकुरजी का चरणामृत पिलाकर मेरा सिर दबाया। मैं बिल्कुल ठीक हूँ।

माँ : तुम्हारे पतिदेव आए थे।

नीलम : हाँ, मैं आँख मूँदे सुन रही थी। आप मेरी ओर से बोल रही थीं, उन पर कोई असर नहीं। माँजी, आशीर्वाद दीजिए, दिल्ली वाली नौकरी इन्हें मिल जाए।

माँ : उससे क्या अन्तर पड़ेगा बहू ? सेठी साहब की कृपा से वह नौकरी मिलेगी। हमेशा उनका डर। हमेशा उनके डर में रहना होगा।

नीलम : ये तो है, पर कोई और उपाय नहीं है।

माँ : उपाय है, तुम सुनना तक नहीं चाहोगी।

[कपड़े बदले शोनू का आना।]

शोनू : दादी, आओ, मेरे साथ खाना खाओ।

नीलम : बच्चे हो क्या ?

शोनू : ममी, मैं क्या हूँ, बताओ न ? कोई नहीं बताता—न टीचर, न डैडी, न ममी।

नीलम : यह तेरे जानने के लिए नहीं है।

माँ : यही इसके जानने के लिए है। इसका जीवन इसी का है।

नीलम : माँजी, इसका दिमाग और मत खराब कीजिए।

शोनू : मुझे अमेरिका जाना है—न्यूक्लियर इंजीनियर बनने, जबकि अपने 'न्यूक्लियस' का पता नहीं है।

माँ : अच्छा, चल।

शोनू : ममी, मुझे पता है, आप मुझसे घबराती हैं। मैं आपसे बात करने लगा हूँ न। कितनी प्यारी बात है—माँ-बेटे में बात ! पर ममी आप ही नहीं, बहुत सारे लोग इसे पसन्द नहीं करते। लोग 'डायलाग' नहीं, 'मोनोलाग' करते हैं।

माँ : अच्छा···अच्छा, अब चल।

नीलम : माफ कीजिएगा माँजी, आप इन्हें बिगाड़ रही हैं।

[**माँ का देखती रह जाना। भीतर से आशा का आना।**]

आशा : ममी, दादी माँ को क्या कहा ?

नीलम : बीच में मत बोल।

आशा : मैं कहाँ बोल रही हूँ ?

[**नीलम द्वारा आशा के मुँह पर झापड़**)

नीलम : ज़बान लड़ाती है !

माँ : ईश्वर के लिए अब बस करो।

नीलम : ईश्वर ! ईश्वर ! हर बात में ईश्वर !

[**जाना**]

माँ : हे प्रभु ! क्षमा करना। बेटे ! ममी है, मार दिया तो क्या हुआ ? अब मुस्करा दो। चलो।

शोनू : दादी माँ, वो शे'र क्या है—किसी ने बुलबुल से पूछा ?

माँ : किसी ने बुलबुल से पूछा, दर्दे फुरकत का इलाज। शाखे गुल से गिरी, तड़पी, तड़पकर मर गई॥

शोनू : फुरकत माने ?

माँ : विरह·· अलगाव। ईश्वर से अलगाव···अपने-आप से अलगाव।

शोनू : तो दर्दे फुरकत का इलाज मौत है ?

[**नीलम का फिर आना।**]

नीलम : अब तक यहीं डटे हो ? चलो, अपना काम करो।

माँ : ये घर है, कोई दफ्तर-कारखाना नहीं कि हर वक्त काम काम काम ! जाकर आराम करो बहू ! तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है।

नीलम : बीमार लोग आराम करते हैं।

माँ : बीमार आराम नहीं कर सकते। वे हर वक्त बेचैन रहते हैं।

नीलम : मैं आपसे बहस नहीं कर सकती।

शोनू : बहस नहीं, संवाद।

नीलम : बत्तमीज़ !

माँ : हे भगवान् !

नीलम : यह मेरा घर है। ये मेरे बच्चे हैं। यह मैं हूँ। मेरी घर-गृहस्थी है। मैंने···मैं···। मैं जैसा चाहूँगी, वैसा ही होगा। वैसा ही करूँगी मैं। हमें 'पास्ट' में नहीं, 'फियूचर' में जीना है।

माँ : पर रहना-जीना कहाँ है ?

[**बाहर से प्रकाश का आते हुए**]

प्रकाश : क्या हो रहा है ? शोनू ! आशा ! क्या हुआ बेटी ? अरे, तुम सब लोग इस तरह चुप क्यों हो ?

शोनू : चुप ही रहना बेहतर होता है डैडी ! आप लोग बड़े समझदार हैं, चुप रहते हैं।

प्रकाश : रुको। कहाँ जा रहे हो ?

शोनू : बाथरूम, जहाँ आप चले जाते हैं। हर बात में सिर्फ इतना ही कहते हैं 'ओ आई सी'।

[**जाना**]

नीलम : सुन लिया न ! कितना व्यंग है इसकी ज़बान में ! ऐसा यह पहले नहीं था। और आपकी यह लाड़ली

बेटी, देखिए कैसी जमी बैठी है। कैसे देख रही है। (पुकारना) नाथू ! नाश्ता टेबल पर लग गया या नहीं ? (जाते हुए) बिना मेरे कहीं कुछ नहीं हो सकता। एक दिन मैं न रहूँ तो पता चल जाए।

[जाना]

प्रकाश : मैं बाहर खड़ा सब कुछ सुन रहा था।

माँ : फिर ऐसे क्यों अनजान बन रहे थे बेटे ?

आशा : आप घर में भी एक चतुर अफसर बने रहते हैं।

प्रकाश : नौकर को गुटनिरपेक्ष—न्यूट्रल रहना होता है।

माँ : मैं तुम्हारे बच्चों को बिगाड़ रही हूँ ?

प्रकाश : अरे माँ, सबका अपना-अपना स्वभाव होता है। मसलन, माँ, तुम्हें हर जगह, हर चीज में, भगवान् ठाकुरजी दिखाई देते हैं। तुम्हारा अपना जीवन है। अपने संस्कार हैं। तुम्हारी बहूरानी नीलम विज्ञान की छात्रा रही हैं। वह हर वक्त विकास, भविष्य की चिन्ता करती हैं। एक ओर भगवान् ठाकुरजी हैं, दूसरी ओर वह नहीं हैं।

माँ : अरे, तो यह ठाकुरजी की बात पकड़कर तुम कहाँ बैठ गए? बात तो कुछ और हो रही थी। तुम सुनकर भी सुनते नहीं क्या ?

[प्रकाश का हँसना]

आशा : शोनू भइया ममी से संवाद की बात कर रहे थे। मेरे भी मुँह से सिर्फ इतना ही निकला कि ममी, आप अकेली अपनी बात···बस, मुझ पर बरस पड़ीं। यह कोई बात हुई भला ! और आप हैं डैडी कि खामखा ईश्वर-भगवान् की बात उठा रहे हैं। माँजो को बेवजह खींच रहे हैं। और अपने-आप को

फिर भी 'न्यूट्रल' कहते हैं।

प्रकाश : अरे-रे-रे···तुम लोग सचमुच बहुत बोलने लगे।

आशा : बोलना पड़ा तो बोलने लगे।

प्रकाश : ओ आई सी।

आशा : आपको सिर्फ इतना ही बोलना है 'ओ आई सी'। इसके अलावा आपको फुर्सत कहाँ ? बोलने का काम ममी को दे दिया।

प्रकाश : अगर हम दोनों बोलें तो तुम लोग कैसे बोलोगे ?

आशा : यही बात तो भइया ममो से कर रहा था। आपस में हम सब क्यों नहीं बोलते ? क्यों एक-दूसरे से डरते हैं ? हर बात में माँजी को बीच में क्यों खींच लिया जाता है ?

प्रकाश : अरे बाप रे बाप, मैं इतने बड़े सवाल का जवाब नहीं दे सकता। (पुकार आती है।) चलो-चलो, ममी की पुकार।

आशा : मैं नहीं जाऊँगी।

प्रकाश : ममी और नाराज होंगी।

आशा : होने दो।

प्रकाश : जिद नहीं करते।

आशा : ममी क्यों जिद करती हैं ? सब कुछ ममी हैं क्या ? नहीं, सब कुछ केवल ईश्वर है। ठाकुरजी हैं।

[नीलम का आवेश में आना।]

नीलम : क्या कहा ? फिर से कह।

आशा : कहूँगी। सब कुछ ममी नहीं हैं। सब कुछ केवल ईश्वर है। ठाकुरजी हैं।

नीलम : बेवकूफ ! (झापड़) तेरी यह हिम्मत ! मुँह तोड़कर रख दूँगी। भक्तिन नहीं बनना है। आधुनिक

लड़की होना है तुझे। कान खोलकर सुन ले—तुझे 'मॉडर्न' बनना है, 'मिडोवियल' नहीं। भूत में नहीं, 'भविष्य' में रहना है।

आशा : ममी, मेरा हाथ छोड़िए।

नीलम : मैं बनाऊँगी तुझे, जैसा मैं चाहूँगी।

माँ : छोड़िए इसके हाथ। इतना घमण्ड ठीक नहीं।

नीलम : आप दूर हटिए माँजी !

माँ : जब बीच में हूँ तो दूर नहीं हट सकती।

[संघर्ष]

प्रकाश : माँ ! माँ !···नीलम, यह क्या किया ? माँ को चोट लग गई।

नीलम : यह बीच में आ गई; मेरी क्या गलती ?

माँ : कोई बात नहीं। चोट नहीं लगी !

□

तृतीय अंक

पहला दृश्य

[मंच पर रात को दो बजे]

नीलम : अब तक नहीं सोए ? देखिए, दो बज गए। यह क्या कर रहे हैं ? आपको नींद नहीं आई या ··?

प्रकाश : सारे सवालों का एक ही जवाब—'जी हाँ'। नींद भी नहीं आई। यह फाइल पूरी कर सेठी साहब को देनी थी।

नीलम : तुम मुझसे नाराज हो ?

प्रकाश : कैसी बात करती हो ! जब माँ तुमसे नाराज नहीं हुई तो मैं क्या ··?

नीलम : माँजी बहुत समझदार हैं। उस पूरे संयोग को उन्होंने बारीकी से देखा। उलटे मुझे समझाती रहीं—बहूरानी, इसमें तुम्हारी क्या गलती। ऐसा हो जाता है। कोई बात दिल में नहीं लाना। तुम्हारी किसी बात का मैंने बुरा नहीं माना। तुम्हारी दिक्कत मैं समझती हूँ बहूरानी ! ऐसा कहा माँजी ने। एक बार नहीं, कई बार।

प्रकाश : पर तुमने माँ से माफी माँगी या नहीं ? क्यों

नीलम ?

नीलम : उसकी कोई जरूरत ही नहीं पड़ी ।

प्रका श : ओ आई सी ।

नीलम : क्या सोच रहे हो ?

प्रकाश : इलाहाबाद में पढ़ता था । रात को जब नींद नहीं आती थी, इलाहाबाद के बड़े चर्च से एक, दो, तीन, चार बजने का जो संगीत उभरता था, अद्‌भुत शान्ति मिलती थी । माँ एक प्राइमरी स्कूल में कुल अस्सी रुपये मासिक तनखाह पर थीं । चालीस रुपये मुझे भेज देतीं । बाकी चालीस में मेरी एक बुआजी, मेरे एक वृद्ध मामाजी और पति-परित्यक्ता दूर के रिश्ते की कोई ताईजी । माँ मुझे पत्र लिखतीं—और यही दोहराती रहतीं—'हारिए न हिम्मत, बिसारिए न रामनाम ।' माँ ने मुझ पर कभी नहीं थोपा कि मैं भी पूजा-पाठ करूँ । माँ ने हमेशा यही कहा—'बेटे, तुम्हें जो अच्छा लगे, वही करना । जिस रास्ते पर खुद चलना चाहो, उसी पर चलना ।'

(सहसा) अरे, तुम तो सो गईं । अजीब स्त्री है ! सब की चिन्ता अपने ऊपर । चाहती है, सब इसी के अनुसार हो । मेरी माँ ने मुझे नहीं बनाया । यह कहती है—मैं बनाऊँगी अपने बच्चों को आधुनिक, कर्मठ, महत्त्वाकांक्षी । पर अजीब खेल है - दोनों बच्चे माँ से आकृष्ट हैं । नीलम को यह बर्दाश्त नहीं । जब देखो तब वही तीनों । तीनों की दोस्ती । हम दो अकेले ।

[मंच पर प्रातःकाल का होना । शोनू का खड़ा गिटा

बजाना । माँ और आशा । गिटार संगीत पर रामायण की चौपाई का गायन ।]

बिनु संतोष न काम नसाही ।
काम अछत सुख सपनेहु नाही ।।
राम भजन बिनु मिटहिं न कामा ।
थलविहीन तरु कबहू कि जामा ।।
बिनु विज्ञान न समता आवइ ।
कोउ अवकास न नभ बिनु पावइ ।।
श्रद्धा बिना धर्म नहिं होयई ।
बिनु महि गंध न पावइ कोई ।।

[प्रकाश और नीलम देखते हैं । नीलम का परेशान होना ।]

प्रकाश : गिटार पर रामायण ! तुम्हें खुश होना चाहिए ।

नीलम : शोनू पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है । मैं इसे बर्दाश्त नहीं कर सकती ।

[प्रकाश का चुप खड़े रहना । नीलम का जाना । शोनू के हाथ से गिटार छीनना । नीलम के पीछे-पीछे शोनू और उसके पीछे माँजी ।]

नीलम : देखिए माँजी, आप बुरा मत मानिएगा । इस उमर के बच्चों के लिए पूजा-पाठ ठीक नहीं । साठ साल की उम्र के बाद धर्म-कर्म ठीक है । तब कोई मुश्किल नहीं पैदा होती ।

[माँ का हँसना ।]

नीलम : शोनू की उम्र सोलह साल । हालांकि मैंने उसकी उम्र रजिस्टर में दो साल कम लिखा रखी है । आशा की उम्र चौदह साल । उसकी भी उम्र मैंने ढाई साल कम कर रखी है । मतलब यह कि इस उम्र में धर्म और पूजा-पाठ इनमें 'कॉम्पलेक्स' पैदा

करेगा। इनका 'नॉर्मल ग्रोथ' रुक जाएगा। इनकी 'पर्सनाल्टी' 'स्पिलिट' हो जायेगी। मैं समझाती हूँ आपको।

माँ : समझ रही हूँ बहू ! इतनी अंग्रेजी तो जानती ही हूँ। इस अंग्रेजी ने क्या गजब ढाया है—इसका भी ज्ञान है, ईश्वर-कृपा से।

नीलम : हर चीज को हर वक्त ईश्वर-कृपा से क्यों जोड़ती हैं ?

माँ : हर चीज उसी से जुड़ी है।

नीलम : इसका सबूत क्या है ?

माँ : सत्य को सबूत की जरूरत नहीं होती।

नीलम : सबूत के बिना कुछ भी सत्य नहीं होता—यह वैज्ञानिक सत्य है।

माँ : झूठ को छिपाने के लिए सबूत की दरकार होती है।

नीलम : धर्म, ज्ञान, श्रद्धा, विश्वास ये सब बुढ़ापे की चीजें हैं।

माँ : बच्चों को मशीन बनाना चाहती हो ?

नीलम : समय की माँग है।

माँ : पशु बनाना चाहती हो ?

नीलम : जी हाँ, किसी हद तक···।

माँ : मशीन और पशु की कोई हद नहीं होती।

नीलम : यह धर्म, ज्ञान, गीता-रामायण, पिछड़ेपन, यहाँ तक कि देहातीपन का सबूत है। माफ कीजिए, तरक्की के लिए धर्म नहीं, शक्ति चाहिए।

माँ : धर्म शक्ति है।

नीलम : पैसा है पैसा।

[नीलम का जाना।]

शोनू : डैडी, आप चुपचाप खड़े हैं ?

माँ : यह चुप्पी काल है।

प्रकाश : मैं अपने घेरे से बाहर नहीं निकल सकता। मुझे 'न्यूट्रल' रहना होगा।

शोनू : 'न्यूट्रल' धर्मनिरपेक्ष होता है।

□

दूसरा दृश्य

[मंच पर संध्या। नीलम और प्रकाशचन्द्र। प्रकाशचन्द्र कुछ पढ़ रहे हैं।]

नीलम : डियर, तुम्हारी विदेश यात्रा कैसी रही, कुछ बताया ही नहीं? तब से बहुत कम बोलने लगे हो। क्या बात है? तुम्हारे जाने के बाद मैं सेठी साहब को धन्यवाद देने गई थी। बड़े समझदार हैं। हर चीज को अपने स्वार्थ से देखते हैं।

प्रकाश : यही बड़े समझदार हैं? यह संयोग की बात है—वह सेक्रेटरी हैं। मैं ज्वाइन्ट सेक्रेटरी हूँ।

नीलम : तुम्हें सबसे ज्यादा मानते हैं।

प्रकाश : मैं सबसे ज्यादा कमजोर हूँ।

नीलम : तुम्हें ही विदेश यात्रा पर भेजा। चलो, उन्हें धन्यवाद दे आएँ।

प्रकाश : तुम दे आई हो। (रुककर) सेठी साहब के लिए देहरादून में पचीस हजार की जमीन का सौदा मुझे तीन लाख में करना पड़ा था—झूठी फाइलें बनाकर।

नीलम : चलो, बाहर घूम आएँ।

प्रकाश : हम बाहर ही तो घूम रहे हैं। घर में कहाँ हैं? अब तो दिल्ली भी जाना है।

नीलम : घर दिल्ली में ही बनायेंगे। दिल्ली की नौकरी कोई आसान चीज नहीं। कुल चार महीने हिन्दुस्तान में, आठ महीने विदेश। हिन्दुस्तानी माल बेचना। विदेशी माल खरीदना।

प्रकाश : पचास प्रतिशत सेठी साहब का होगा।

नीलम : देखा जाएगा।

प्रकाश : कौन देखेगा?

[खामोशी]

प्रकाश : मैं माँ को धोखा नहीं दे सकता।

नीलम : माँ बीच में कहाँ से आ गई?

प्रकाश : माँ सदा हमारे बीच में हैं।

नीलम : देखो, ऐसा करेंगे, लखनऊ से दिल्ली पोस्टिंग होते ही माताजी को ऋषिकेश या हरिद्वार के किसी अच्छे आश्रम में रख देंगे। उन्हें किसी तरह की कोई तकलीफ नहीं होगी।

प्रकाश : नहीं, यह नहीं होगा।

नीलम : क्या?

प्रकाश : माँ मेरी केवल माँ नहीं हैं। वह मेरी जननी हैं। पिता हैं, भाई हैं, मित्र हैं, और सबसे ऊपर वह मेरी आचार्या हैं। प्रातः चार बजे से पहले माँ उठती थीं। भजन गाते हुए घर भर में झाड़ू लगाती थीं। मैं भी उठकर गाने लगता था। महीने में कई ऐसे पर्व के दिन आते, जब माँ सवेरे उठकर नदी-स्नान को जातीं। उनकी उँगली पकड़कर मैं साथ हो लेता। माँ के साथ उनका पल्ला पकड़ काशी, अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, कुंभ मेला, गंगा-स्नान—ऐसी अनेक यात्राएँ कीं। अनुभव और प्रसादी

मिलती। घर में प्रीतिभोज होता। कोई वृक्ष फलता तो सबसे पहले आस-पड़ोस में बाँटा जाता।

नीलम : ये कृषि सभ्यता के दिनों की बातें हैं।

प्रकाश : माँ ने कभी मुझे डाँटा तक नहीं। कभी कोई आज्ञा नहीं दी। अपने चरित्र और आचरण से माँ मेरी आचार्या बनीं। तुमने माँ को देखा है, माँ कभी बेकार नहीं बैठीं। इस उम्र में भी सिलाई, बुनाई, घर की सफाई, बच्चों की सेवा, रसोई, पकवान कितना कुछ इतने शौक-उत्साह से माँ करती हैं। तुमने कभी देखा है अपने-आपको ? अपने जीवन में संयम, सादगी, त्याग का आचरण किया है ?

नीलम : इन फिजूल की बातों की कोई जरूरत नहीं।

प्रकाश : मैं आचरण करूँ या न करूँ, दूसरे जैसा मैं कहूँ, वैसा आचरण जरूर करें, नहीं तो उन्हें मारा-पीटा जाए। यह समझ हमें कहाँ से मिली ? एक सिखाने वाला, दूसरा आचरण करने वाला। यही है बाहर, जो भीतर आया। अपने बच्चों के साथ, समान रूप से अभिन्नता अनुभव होती है। इस आत्मीयता के रंग में माँ को सबके दोष अपने से लगते हैं।

नीलम : तुम्हारी भाषा मेरी समझ में नहीं आ रही। तुम कहना क्या चाह रहे हो ? अंग्रेजी में कहो।

[प्रसाद लिए माँ]

माँ : लो, प्रसाद लो। आज ठाकुरजी के प्रसाद में अंगूर हैं। पिछवाड़े अंगूर की बेल में नए फल लगे हैं।

नीलम : माँजी, मैं भी पूजा करना चाहती हूँ। पूजा कैसे की जाती है ? ठाकुरजी को भोग कैसे लगाया जाता है ?

माँ : अरे, पूजा से पहले तुम्हें तो सबूत चाहिए भगवान् का।

नीलम : सेठी साहब हैं न ? इन बातों में बड़ा शौक है उन्हें।

प्रकाश : तभी इन्हें भी शौक हो गया।

नीलम : क्या तुम्हें जरा भी शौक नहीं ?

प्रकाश : मैं निरपेक्ष हूँ। मैं अपने से बाहर नहीं निकल सकता। मुझे नौकरी करनी है।

नीलम : इनको समझाइए न।

प्रकाश : माँ सब समझती हैं।

माँ : एक ओर राम की जय, दूसरी ओर रावण की जय—दोनों एक साथ नहीं चलता।

नीलम : माँ - बेटा दोनों की बात मेरी समझ में नहीं आती।

माँ : तुम्हारा काम समझाना है। समझना नहीं।

प्रकाश : समझने के लिए आधार चाहिए, जिसे विश्वास कहते हैं।

नीलम : माँजी, मुझे थोड़ा 'गाइड' कर दीजिए न।

माँ : गाइड बुक से बी० ए०, बी० एस-सी० पास किया जा सकता है।

[जाने लगना]

नीलम : रुकिए माँजी !

माँ : बहू, ठाकुरजी को पंखा झलना है। उन्हें गर्मी लग रही है।

नीलम : मैं पंखा चला आती हूँ।

माँ : बिजली के पंखे से ठाकुरजी को हवा नहीं लगती। फिर ठाकुरजी को झूला झुलाना है। गाऊँगी।

तभी ठाकुरजी विश्राम करेंगे।

नीलम : ठाकुरजी तो पत्थर की मूर्ति हैं।

प्रकाश : नीलम !

माँ : बेटे, कहने दो न। नहीं जानती तभी तो कह रही है।

प्रकाश : इनके जानने के लिए ये पत्रिकाएँ हैं। (**दिखाना**) फिल्म, हत्या, अपराध, फैशन···।

नीलम : प्रकाश !

प्रकाश : ठाकुरजी पत्थर की मूर्ति नहीं हैं। तुम उन्हें नहीं समझ सकतीं। हम अपनी जड़ से उखाड़ दिये गये हैं। जैसे हम पत्थर होते जा रहे हैं, वैसे भगवान् को भी···।

नीलम : मुझे जब जरूरत होगी, तुम्हारी भाषा में समझ लूँगी।

प्रकाश : जरूरत ! जरूरत !!

नीलम : देखो, जब मुझे जरूरत थी तो हर मंगलवार को पूरे डेढ़ साल तक 'फास्ट' किया कि नहीं ?

प्रकाश : वह 'फास्ट' था, पर उपवास नहीं था - जिसे व्रत कहते हैं।

नीलम : 'फास्ट' और व्रत में फर्क क्या है ?

प्रकाश : 'फास्ट' माने 'डाइटिंग' - मोटापा कम करने के लिए। व्रत माने अपनी भूख-प्यास-लालच-डर से ऊपर उठना। जो हमें बहुत प्रिय हैं, उन्हें ईश्वर के चरणों में अर्पित करना। मनुष्य अपने अहंकार में जमकर पत्थर न हो जाए, इससे बचने के लिए अपनी कठोरता को पिघलाता रहता है—भाव से, आँसुओं से, संगीत से और सेवा से। परमपूज्य के चरणों में

नतसिर होकर अपने अहंकार का शमन करना, यही ठाकुरजी की पूजा है। हम भाव बने रहें, पदार्थ न हो जाएँ, यही मेरी माँ का भजन है।

नीलम : तुमने मुझे ये बातें कभी नहीं बताईं।

प्रकाश : इसकी तुम्हें जरूरत नहीं थी, क्योंकि इसका लाभ नहीं था। मैं राम और रावण दोनों में एक साथ विश्वास नहीं कर सकता। रावण की लंका में फायदे ही फायदे हैं।

[**हँस पड़ना**]

नीलम : ऐसे क्यों हँसते हो ? मुझे डर लगता है।

□

चतुर्थ अंक

पहला दृश्य

[मंच पर सन्ध्या। माँ आशा और शोनू के साथ। तीनों मिलकर कोई खेल कर रहे हैं। नाथू का आना।]

नाथू : सुनो···सुनो···सुनो !

शोनू : क्या है ?

नाथू : सेठी साहब आ रहे हैं।

माँ : चलो, हम लोग भीतर चलते हैं।

नाथू : अरे, अभी थोड़े ही आ रहे हैं। मतलब थोड़ी देर में आएँगे। साहब और मेम साहब दोनों गए हैं, बड़े साहब को लेने।

शोनू : धत्तेरे की ! हमारा खेल चौपट कर दिया।

माँ : अच्छा-अच्छा, हम दूसरा खेल करते हैं। आशा ! शोनू !! ऋग्वेद का वह मंत्र पढ़ो···।

दोनों : इयं मे नाभिः।

माँ : क्या मतलब ?

शोनू : यह शरीर मेरी नाभि है।

दोनों : इमे मे देवाः।

शोनू : जो कुछ मेरे चारों ओर दीखता है—सब देव है—परमेश्वर है।

तीनों : अयमस्ति सर्वः।
मैं सर्वरूप हूँ। मुझमें सारी सृष्टि समाई हुई है।

[सहसा बाहर से नीलम का आना।]

माँ : क्या है बहू ? इतना घबराई हुई क्यों हो ?

नीलम : सेठी साहब आ रहे हैं। माँजी, वह आपसे ही मिलने आ रहे हैं। आप कृपा कर उनकी बातें सुनियेगा। जवाब मत दीजियेगा। आप बात करियेगा, पर उनकी बात नहीं काटियेगा। बच्चे ! तुम लोग यहाँ बैठोगे। तुम्हारे हाथों में अंग्रेजी किताबें होंगी। मैं जब इशारा करूँगी, माँ को लेकर अन्दर चले जाना।

माँ : ये सब क्या है ?

नीलम : माँजी, हाथ जोड़ती हूँ। आपके पैरों पड़ती हूँ। आपके बेटे के भविष्य का प्रश्न है।

[सेठी और प्रकाश का आना।]

सेठी : माँजी को प्रणाम। आपका बेटा बहुत बड़ा अफसर होकर दिल्ली जाने को है। बधाई ! बधाई !!

माँ : सब ईश्वर की कृपा है।

सेठी : सब ईश्वर की कृपा है, सब ईश्वर है तो आप क्या हैं ?

माँ : वही ईश्वर हूँ।

सेठी : ठाकुरजी का सब कुछ है। वही सबको खिलाते हैं। पिलाते हैं। सबको जिन्दा रखे हुए हैं। फिर हम ठाकुरजी को भोग कैसे लगाते हैं ?

माँ : ठाकुरजी को किसी चीज की कोई जरूरत नहीं। जरूरत तो हमें है। हम हैं भूखे, प्यासे, थके, हारे।

अभाव हममें है। उनके भाव से हम अपने अभाव को भरते हैं।

सेठी : मैं समझा नहीं माँजी !

माँ : वही जिसे समझाए वही समझ सकता है।

सेठी : मैं तो घर में उसी की पूजा-पाठ करता हूँ।

माँ : और बाहर ?

सेठी : देखिए जी, घर और बाहर में अन्तर रखना ही पड़ता है।

माँ : धर्म में अन्तर की गुँजाइश नहीं है।

नीलम : माँजी, इनकी बात समझिए।

सेठी : ईश्वर को आपने देखा है ?

माँ : उसे कौन देख सकता है ? लोग बच्चों की तरह बातें करते हैं।

नीलम : माँजी, आप इधर आ जाइए।

सेठी : ईश्वर जब देखा ही नहीं जा सकता तो उसकी सेवा कैसी ?

माँ : सेवा तो अहंकार का विसर्जन है।

सेठी : जी नहीं, इससे अहंकार और बढ़ता है।

माँ : अगर अहंकार से सेवा की जाएगी तो···?

नीलम : माँजी, सुनिए। इधर आ जाइए।

[अलग]

माँ : क्या बात है ?

नीलम : आप बोलिए नहीं।

माँ : अपने कमरे में जाती हूँ।

नीलम : रुकिए।

[नीलम का शोनू और आशा को संकेत करना।]

नीलम : माँ जी, सुनिए···।

माँ : क्या है ?

नीलम : सेठी साहब से बहस मत कीजिए। इनकी हाँ में हाँ मिलाइए।

माँ : क्यों ?

नीलम : नहीं तो बड़ा नुकसान हो सकता है।

माँ : अन्दर चली जाती हूँ।

नीलम : नहीं, साहब आपसे ही मिलने आए हैं। चुपचाप उनकी बात सुनिए।

माँ : जो हूँ, वही एक हूँ। दो नहीं हो सकती।

नीलम : हमारे लिए, अपने बेटे की तरक्की के लिए माँजी ! आपको कुछ करना नहीं है। बस, उनकी हाँ में हाँ मिलाते रहना है।

माँ : मुझसे यह नहीं हो सकता।

नीलम : अच्छा, आप चुप रह सकती हैं न ?

माँ : मैं यहाँ से चली जाती हूँ।

नीलम : आपको यहीं बैठना है और चुपचाप बैठना है।

माँ : जो ठाकुरजी की इच्छा होगी।

नीलम : कोई ठाकुर-फाकुर नहीं।

माँ : हे कृपासिन्धु !

नीलम : मुँह बन्द। चलिए बैठिए।

[आना]

सेठी : आइए माँजी, आप कहाँ चली गई थीं ?

नीलम : जरा तबियत ठीक नहीं है। दवा लेने गई थीं। जरा बोलने में कभी-कभार थोड़ी दिक्कत हो जाती है।

सेठी : माँजी, पूजा-पाठ से नींद अच्छी आती है। तनाव कम हो जाता है जिसके पास फुर्सत है वही धर्म,

अध्यात्म, पूजा-पाठ के बारे में सोच सकता है। पश्चिम इतनी तरक्की कैसे कर रहा है? हमारी तरह वहाँ कोई चक्कर नहीं। हमारे यहाँ लोग काम नहीं करना चाहते, बहाना करते हैं पूजा-पाठ का। अब माँजी की बात और है। क्यों माँजी? माँजी चुप क्यों हैं?

नीलम : जी, आपसे सहमत हैं।

प्रकाश : माँ! क्या हो गया माँ? माँ! (देखकर) माँ! माँ! माँ चली गई। हे ईश्वर! यह क्या हो गया?

सेठी : ताज्जुब है! क्या हो गया?

[माँ की मृत्यु पर सब सन्न। दोनों बच्चों का माँ पर रोते हुए बिछ जाना। पीछे नट-नटी का गायन।]

किसी ने बुलबुल से पूछा
दर्दे फुरकत का इलाज।
शाखे गुल से गिरी
तड़पी।
तड़पकर रह गई॥

□

दूसरा दृश्य

[दोपहर का मंच। शोनू, नीलम, आशा।]

नीलम : कान खोलकर सुन लो। माँजी के ये कपड़े-सामान बटोरकर किसी को दे देना है। माँजी को भूलो। अपनी चिन्ता करो। तुम दोनों का आखिरी साल है। अस्सी फीसदी से कम नम्बर मिले तो दिल्ली में एडमिशन नहीं होगा। तुम लोग इस तरह चुप क्यों हो? तुम्हारे पापा की पोस्टिंग दिल्ली हो गई है, माँजी के आशीर्वाद से...।

शोनू : ईश्वर के लिए हमारी माँजी का नाम मत लीजिए।

नीलम : माँजी के लिए कब तक रोते रहोगे?

आशा : जब तक हम जिन्दा रहेंगे।

नीलम : दादी माँ की वह ठाकुरजी की मूर्ति कहाँ है? अपने पण्डितजी ने बताया है, हरिद्वार में अस्थि-विसर्जन के साथ ठाकुरजी का भी विसर्जन कर दिया जाए।

शोनू : वह पण्डित मूर्ख है। लालची है। ठाकुरजी का कभी विसर्जन नहीं होता।

नीलम : पर वह मूर्ति है कहाँ? हम तभी से ढूँढ़ रहे हैं। कहाँ है?

आशा : आप क्या करेंगी उस मूर्ति का?

नीलम : मैं उसे अब अपने घर में नहीं रखने दूँगी। वह

सारा चक्कर माँजी तक था।

[इस पूरे अनुक्रम में नीलम का दादी माँ के कपड़े-सामान तहाकर रखना।]

नीलम : यह है कुल दादीजो का सामान, चार साड़ियाँ, दो ब्लाउज, दो पेटीकोट, रामायण, इतना चावल, इतना बतासा।

आशा : चावल नहीं अक्षत। बतासा नहीं प्रसाद।

नीलम : जो भी हो। इसे किसी को दे देना।

शोनू : (लेकर) इसे हम अपने पास सुरक्षित रखेंगे।

[प्रकाश का आना]

नीलम : क्या है ? सब ठीकठाक ? बोलते क्यों नहीं ?

प्रकाश : मैंने दिल्ली जाना मना कर दिया।

नीलम : क्या ?

प्रकाश : मुझे तरक्की नहीं चाहिए। मैंने नौकरी कर ऐसी धर्म माँ को खो दिया। निरपेक्ष रहने की इतनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ेगी, पता नहीं था। नौकरी पेट के लिए है, अन्नमय कोष के लिए। जीवन मनोमय कोष का भोजन है—इसीलिए वह धर्म है। धर्म सर्वजीवन के साथ एकाकार होना।

नीलम : तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है। तुम ऐसा नहीं कर सकते। सेठी साहब को फोन करती हूँ।

[रोक लेना]

प्रकाश : अब मैं निरपेक्ष नहीं हूँ।

नीलम : यह खतरनाक है।

प्रकाश : माँ मेरा भय लेकर चली गईं। इस नौकरी ने मेरा सत्यानाश किया, पर माँ के आशीर्वाद से मैं इतना नहीं गिरा कि माँ के विश्वास को अपनी तरक्की के

लिए बाजार में बेच दूँ।

[नाथू का आना]

प्रकाश : ठाकुरजी कहाँ हैं ? वे भूखे होंगे, प्यासे होंगे···।

नीलम : उनका पता ही नहीं चल रहा। शोनू और आशा मुझसे सीधे मुँह बात नहीं करते।

[पीछे सहसा गिटार संगीत पर शोनू और आशा का गायन]

धर्म न अर्थ न काम रुचि
गति न चहें निर्वान।
जन्म जन्म प्रभुपद भगति
यह वरदान न आन॥

प्रकाश : सुनो ! ये स्वर कहाँ से आ रहे हैं ?

नीलम : कुछ भी तो नहीं, तुम्हें ऐसा लग रहा है।

प्रकाश : सुनो ! ध्यान से।

[वही दृश्य]

प्रभुसन कहियों दण्डवत
तुम्हें कहै कर जोरि।
बार-बार रघुनाथ कहि
सुरत करायो मोरि॥

नीलम : कहाँ जा रहे हो ?

प्रकाश : वहीं।

नीलम : नहीं। तुम्हें ऐसा लग रहा है। कहीं कुछ नहीं हो रहा। सिर्फ तुम्हारा ख्याल है।

प्रकाश : चलो, देखते हैं।

नीलम : नहीं, मैं नहीं जाऊँगी। मुझे अकेली छोड़कर नहीं जा सकते।

[नट-नटी का गायन दृश्य]

कथा विसरजन होत है
सुनो बीर हनुमान।
राम लखन सीय जानकी
सदा करो कल्याण ।।

[वही दृश्य। आशा, शोनू के पास प्रकाशचन्द्र। नीलम दूर खड़ी अकेली]

जो जन जहाँ से आयहू
कथा सुनी मन लाय।
अपने-अपने भवन को
हरषि जाहु सुख पाय ।।

[पर्दा]

□□

प्रश्न और अभ्यास

विषय-वस्तुगत

१. 'कथा विसर्जन' में कथा का क्या महत्त्व है ?
२. नाटक के संदर्भ में कथा और 'प्लाट' में क्या अंतर है ?
३. इस नाटक का विषय क्या है ? उस विषय से कथावस्तु का निर्माण कैसे हुआ है ?
४. 'कथा विसर्जन' नाटक में प्रस्तावना अंग क्यों रखा गया है ? इसका महत्त्व क्या है ?
५. विषय-वस्तु को अपने शब्दों में समझाकर लिखें।
६. 'कथा विसर्जन' शीर्षक से नाटक का क्या संबंध है ?
७. विषय-वस्तु की समसामयिकता पर प्रकाश डालिए।

कला-शिल्पगत

१. 'कथा विसर्जन' में भारतीय नाट्य परंपरा का सुन्दर प्रयोग है —इसे सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

२. इस नाटक में प्रस्तावना का प्रयोग कितना सार्थक है? तर्कपूर्ण उत्तर दीजिए।
३. नट-नटी के प्रयोग से नाटक में क्या प्रभाव पैदा हुआ है?
४. अंक योजना पर विस्तार से प्रकाश डालें।
५. प्रथम और अंतिम अंक की कलात्मक तुलना कीजिए।
६. इसकी दृश्य योजना के महत्त्व को सोदाहरण बताइए।
७. इसकी अभिनेयता पर अपने विचार प्रकट करें।

भाषा और चरित्रगत

१. इस नाटक में चरित्र नहीं पात्र हैं—इसका क्या उद्देश्य है?
२. इस नाटक का मूल पात्र माँ हैं या नीलम—कारण बताते हुए उत्तर दीजिए।
३. 'कथा विसर्जन' में प्रकाशचन्द्र की पात्रता का क्या महत्त्व है?
४. इस नाटक में गीत और संगीत के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
५. इस नाटक की भाषा और संवाद शैली पर अपने विचार प्रकट करें।
६. पात्रों के अनुकूल भाषा है—इस पर टिप्पणी करें।
७. पात्रों के निर्माण और विकास में जीवनमूल्यों का कितना हाथ है—तर्कपूर्ण उत्तर दें।

विविध

१. बाहर से न जाने कितनी चीजें इस घर में आती हैं। कौन-सी चीज कैसी है, माता-पिता को चिंता होनी चाहिए। तुम्हें कोई चिंता है? न अपनी, न अपने बच्चों की, न पति की। चिंता है

तो केवल भविष्य की। आज की नहीं, कल की। बेटा प्रश्न करता है, यह तो बड़े सौभाग्य की बात है।

२. इलाहाबाद में पढ़ता था। रात को जब नींद नहीं आती थी, इलाहाबाद के बड़े चर्च से एक, दो, तीन, चार बजने का संगीत उभरता था, अद्भुत शांति मिलती थी। माँ एक प्राइमरी स्कूल में कुल अस्सी रुपए मासिक तनख्वाह पर थीं। चालीस रुपए मुझे भेज देतीं। बाकी चालीस में मेरी एक बुआजी, मेरे एक वृद्ध मामाजी और पति-परित्यक्ता दूर के रिश्ते की कोई ताईजी। माँ मुझे पत्र लिखतीं और यही दोहराती रहतीं 'हारिए न हिम्मत, बिसारिए न रामनाम।' माँ ने मुझ पर कभी नहीं थोपा कि मैं भी पूजा-पाठ करूँ। माँ ने हमेशा यही कहा—'बेटे, तुम्हें जो अच्छा लगे, वही करना। जिस रास्ते पर खुद चलना चाहो, उसी पर चलना।'

३. माँ मेरी केवल माँ नहीं हैं। वह मेरी जननी हैं। पिता हैं, भाई हैं, मित्र हैं, और सबसे ऊपर वह मेरी आचार्या हैं। प्रातः चार बजे से पहले माँ उठती थीं। भजन गाते हुए घर भर में झाड़ू लगाती थीं। मैं भी उठकर गाने लगता था। महीने में कई ऐसे पर्व के दिन आते, जब माँ सवेरे उठकर नदी-स्नान को जातीं। उनकी उँगली पकड़कर मैं साथ हो लेता। माँ के साथ उनका पल्ला पकड़ काशी, अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, कुंभ मेला, गंगा-स्नान—ऐसी अनेक यात्राएँ कीं। अनुभव और प्रसादी मिलती। घर में प्रीतिभोज होता। कोई वृक्ष फलता तो सबसे पहले आस-पड़ोस में बाँटा जाता।

४. ठाकुरजी को किसी चीज की कोई जरूरत नहीं। जरूरत तो हमें है। हमीं हैं भूखे, प्यासे, थके, हारे। अभाव हममें है। उसके भाव से हम अपने अभाव को भरते हैं।

(क) ऊपर के संवाद किन-किन पात्रों के हैं? उनमें से किन्हीं दो के संदर्भ और प्रसंग सहित व्याख्या कीजिए।

(ख) पहले संवाद की नाटकीयता पर प्रकाश डालिए।

(ग) तीसरे संवाद से नाटक की कथा पर क्या प्रकाश पड़ता है ?

(घ) दूसरे संवाद का उसके पात्र के चरित्र से क्या संबंध है, समझाकर लिखिए।

□□□